भूमिका

भारत की, शिक्षा व्यवस्था आज गहरे संकट का शिकार है। पिछले 10-15 वर्षों के दौरान शिक्षा के मूल उद्देश्यों, पाठयक्रमों, प्रशासनिक ढाँचों और उसके तौर तरीकों में भारी फेरबदल किये गये हैं।

प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में स्थायी सरकारी स्कूलों की दुर्दशा को बढ़ाया जा रहा है और उसकी जगह अनौपचारिक शिक्षा के नाम पर, वैकल्पिक स्कूल, बहुस्तरीय क्लास, शिक्षा गारन्टी योजना, साक्षरता केन्द्र जैसे नाना प्रकार के उपायों के द्वारा गरीब बच्चों के लिये घटिया और दो कौड़ी की शिक्षा को बढ़ावा दिया जा रहा है। साथ ही, विश्व बैंक के पैसे से चलने वाले जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम के जरिये गरीब बच्चों को शिक्षित करने की खानापूर्ति की जा रही है। दूसरी ओर संपन्न परिवारों के बच्चों के लिये नये-नये अंग्रेजी माध्यम स्कूलों की बाढ़ सी आ रही है।

उच्च शिक्षा की स्थिति तो और भी बदतर है। सरकारी कालेजों और विश्वविद्यालयों के अनुदान से ही तुच्छ राशि की पहले भी लगातार कटौती की जा रही है। उन्हें आत्मनिर्भर बनाने के नाम पर ऐसे मंहगे व्यावसायिक पाठयक्रमों को बढ़ावा दिया जा रहा है जिनके जरिये भारी फीस वसूला जा सके। होटल मैनेजमेंट, टूरीज्म, फैशन डिजायनिंग, इन्फोंरमेशन टेक्नालाजी, बिजनेस मैनेजमेंट, मॉडलिंग और कम्प्यूटर के नये-नये कोर्स खुल रहे हैं, जो इतने महंगे हैं कि आम आदमी की सन्तानों की पहुँच से बाहर हैं। साथ ही इनका उद्देश्य भी अपने देश और समाज का विकास करना नहीं बल्कि देशी-विदेशी पूँजीपतियों का मुनाफा बढ़ाना है। दूसरी ओर सामाजिक, मानविकी और भाषा से संबंधित विषयों को उपेक्षा का शिकार बनाया जा रहा है क्योंकि बाजार में उनकी कोई कीमत नहीं है। कुल मिलाकर उच्च शिक्षा और तकनीकी शिक्षा के व्यवसायीकरण को पूरी तरह प्रोत्साहित किया जा रहा है।

हमारे देश के शासकों ने अपनी अर्थव्यवस्था को विश्व पूँजीवादी व्यवस्था के साथ नत्थी करके, जिस तरह आर्थिक विकास की दिशा में उलट फेर किया है, उसी के अनुरूप शिक्षा व्यवस्था में भी ये बदलाव किये जा रहे हैं। विश्व बैंक, मुद्राकोष और आगे चलकर विश्व व्यापार संगठन के साथ साँठ-गाँठ करके हमारे शासकों ने शिक्षा को देशी-विदेशी पूँजीपतियों के स्वार्थों के अनुरूप ढालने के लिये, उसमें अनेक नीतिगत बदलाव किये हैं। इसके लिये एक-एक कर कई आयोगों और कमिटियों का गठन किया गया और यहाँ तक की संविध ान संशोधन का भी सहारा लिया गया। इन सभी कारवाईयों के पीछे सरकार की कतई यह मंशा नहीं थी कि शिक्षा को सर्वसुलभ, न्याय संगत और बेहतर बनाया जाय। इसके विपरीत उसका मकसद अपनी संवैधाानिक जिम्मेदारियों से पल्ला झाड़ते हुए, शिक्षा को पहले से भी बदतर

हालत में पहुँचा देना या उसका व्यवसायीकरण करके उसे बिकाऊ माल में बदल देना रहा है।

शिक्षा नीति में किये जा रहे इन बदलावों के पीछे विश्व पूँजीवादी शक्तियों की सीधी दखलअंदाजी भी अब कोई छिपी हुई बात नहीं रह गयी है। शिक्षा को किस दिशा में ले जाना है क्या पढ़ाना है या इस मद में कितना पैसा खर्च करना है, इन सब मामलों में योजना आयोग या मानव संसाधन विकास मंत्रालय की कोई खास भूमिका नहीं रह गयी है। सरकार दिनोंदिन शिक्षा क्षेत्र में अपनी संवैधानिक जिम्मेदारियों का खुद परित्याग करती जा रही है और इस क्षेत्र में बाजार की शक्तियों को धंधा करने की खुली छूट दे रही है। शिक्षा से सम्बन्धित फैसले देश और समाज की जरूरतों को ध्यान में रखकर नहीं बल्कि देशी-विदेशी पूँजीपतियों को ध्यान में रखकर लिये जा रहे हैं। शिक्षा संबंधी प्राथमिकताओं और नीतिगत मामलों में विदेशी ताकतों की दखलअंदाजी का सबसे स्पष्ट उदाहरण विश्व बैंक द्वारा प्रायोजित जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम है। जिसमें संवैधानिक और नीतिगत फैसलों में बुनियादी फेरबदल करते समय संसद या संसद से बाहर, इस पर कोई बहस या समीक्षा की जरूरत नहीं समझी गयी। देश की शिक्षा से संबंधित जुड़े फैसले अब दिल्ली में बैठे हमारे शासकों द्वारा नहीं, बल्कि वाशिंगटन स्थित विश्व बैंक मुख्यालय या साम्राज्यवादी देशों की राजधानियों में लिये जा रहे हैं।

ईस्ट इंडिया कंपनी का अपने साथ लॉर्ड मैकले का लाना तो लाजिमी ही था। लेकिन इस बार वह अपने फौज-फाटे और यूनियन बैंक के साथ नहीं आयी है। सीधे-सीधे और खुले आम यहाँ आने से जनता के अन्दर जो आक्रोश पैदा होता उसका खतरा उठाने के बजाय वह इस बार बहुत ही धूर्ततापूर्ण तरीके अपना रही है। देश के बाजार और प्राकृतिक संसाधनों पर अपना वर्चस्व कायम करने के लिये इस बार उसने यहाँ के अभिजात शासक वर्गों-विभिन्न पार्टियों के नेताओं, पूँजीपतियों, नौकरशाहों और शीर्षस्थ बुद्धिजीवियों के साथ अपवित्र गठबंधन कायम कर लिया है।

वैश्वीकरण के नाम पर आज शिक्षा के बुनियादी दर्शन और उसके उद्देश्यों को ही चुनौती दी जा रही है। विश्व साम्राज्यवादी व्यवस्था अपने मुनाफे के विस्तार में शिक्षा की महत्वपूर्ण भूमिका को अच्छी तरह समझती है। इसलिये उनका प्रयास है कि शिक्षा के सभी पक्षों को तोड़-मरोड़कर उसे पूँजीवाद समर्थक उपभोक्तावादी और उच्च तकनीक के अनुकुल ढाला जाय और छात्रों को एक कुशल अनुशासित और उपयोगी संसाधन में बदल दिया जाय। शिक्षा के जरिये हर एक छात्र को उसकी अंतर्निहीत क्षमताओं का बहुमुखी विकास कर के उसे एक समक्ष नागरिक बनाने के बजाय वैश्विक पूँजी के लिये एक जरूरी 'संसाधन' और उसके हाथ की कठपुतली बना देना चाहते हैं।

साम्राज्यवादी पूँजीवादी शक्तियों द्वारा थोपी जा रही इस नयी आर्थिक गुलामी के दौर में शिक्षण-संस्थानों को 'ज्ञान का उत्पादक', छात्रों को 'ज्ञान का उपभोक्ता' और शिक्षा को 'उपभोक्ता माल' में बदला जा रहा है। मुनाफे पर टिकी इस व्यवस्था में शिक्षारूपी 'ज्ञान उद्योग' का व्यावसायीकरण कर के इसे देशी विदेशी पूँजीपतियों के हवाले करना स्वाभाविक है। लेकिन सबसे दु:खद बात यह है कि वैश्वीकरण को एक अपरिहार्य और अजेय शक्ति के रूप में

स्थापित करके हमारे मन में यह गुलाम मानसिकता भरी जा रही है कि इसके विरूद्ध कोई भी पहलकदमी या प्रतिरोध संभव नहीं है। इस असहायता की मन:स्थिति के चलते कि कुछ नहीं हो सकता, हमारे शासक वर्ग ऊपर से इन नीतियों को एकमात्र विकल्प के रूप में थोपते जा रहे हैं। दूसरी ओर, नीचे के पायदान पर स्थित छात्र, शिक्षक और अभिभावक भी बिना किसी प्रतिवाद के सर झुकाकर इसे स्वीकार कर रहे हैं। इसी मन:स्थिति के चलते विश्व पूँजीवादी शक्तियों को जनता की ओर से कोई प्रबल चुनौती का सामना नहीं करना पड़ रहा है।

एक ज्ञानसंपन्न न्यायपूर्ण और सशक्त समाज की रचना के लिये यह जरूरी है कि हम वैश्वीकरण के नाम पर हमारे देश, समाज और जीवन में चारों ओर रची जा रही साजिशों को समझे और उसके खिलाफ एक निर्णायक संघर्ष की दीर्घकालिक तैयारी में जुट जाय। छात्र नौजवान किसी भी परिवर्तन के मुख्य वाहक और अजेय शक्ति होते हैं। शिक्षा पर हो रहे इन हमलों के भुक्तभोगी भी वही हैं। इसलिए आज छात्रों नौजवानों का यह ऐतिहासिक दायित्व है कि शिक्षा व्यवस्था पर हो रहे इन हमलों के विभिन्न पहलुओं को व्यापकता और गहराई में समझे। नई आर्थिक गुलामी को चिरस्थाई बनाने के उद्देश्य से गढ़ी जा रही गुलाम बनाने वाली शिक्षा के खिलाफ संघर्ष की यह बुनियादी शर्त है। यह आलेख इसी दिशा में एक प्रयास है।

शिक्षा और समाज

शिक्षा में किये गये हाल के बदलावों के परिणाम से ज्यादातर लोग वाकिफ होंगे। इन बदलावों से लगभग हर परिवार किसी न किसी रूप में प्रभावित हुआ है।

सवाल उठता है कि क्या ये बदलाव किसी के शैतानी दिमाग की ऊपज है? या इन बदलावों के पीछे समाज के कुछ खास वर्गों के निहित स्वार्थ हैं? आखिर क्या कारण है कि ये बदलाव इतिहास के एक ऐसे मोड़ पर हुए, जब हमारे देश के शासकों के चरित्र में, और इसी अनुरूप आर्थिक क्षेत्र में तेजी से बदलाव होता दिखायी दिया?

शिक्षा-व्यवस्था और समाज-व्यवस्था के सम्बन्धों को लेकर होने वाली यह बहस बहुत पुरानी है। इसकी जड़े इतिहास में वहाँ तक जाती हैं जहाँ से व्यवस्थित रूप से शिक्षा देने का काम शुरू हुआ और शिक्षा-केन्द्रों के रूप में गुरूकुलों ऋषिकुलों या विद्यापीठों की स्थापना हुई। महाभारत में गुरू द्रोणाचार्य के प्रसंग में इसका बहुत ही जीवन्त और सुस्पष्ट चित्रण किया गया है। अभाव-ग्रस्त माँ ने अश्वस्थामा को दूध की जगह आटा घोलकर पिलाया था। गरीब द्रोण से यह करूण दशा देखी नहीं गयी और उन्होंने अपने ज्ञान को सचेत रूप से राजसत्ता को समर्पित कर देने का निर्णय लिया। अपनी प्रतिभा को राजसत्ता को समर्पित कर देने के बाद द्रोणाचार्य को यह अधिकार नहीं रह गया कि वे किसे शिक्षा देंगे और किसे नहीं, क्योंकि यह राजसत्ता और शासक वर्ग के अधिकार क्षेत्र में आता था। द्रोणचार्य ने एकलव्य को, राजकुल में जन्म न लिये होने के कारण धनुर्विद्या सिखाने से इनकार कर दिया और जब खुद के प्रयास से उसने धनुर्विद्या प्राप्त कर लिया और राजपुत्रों के साथ प्रतिस्पर्धा करने में समर्थ हो गया, तो द्रोणाचार्य ने उसका अगूठा काट लिया।

आगे चलकर यह संहिताबद्ध कर दिया गया कि शूद्रों को शिक्षा प्राप्त करने और वेद-विद्या सम्पन्न होने का अधिकार नहीं होगा। यह भी व्यवस्था दी गयी कि वेदों की ऋचनाओं को सुनने की धृष्टता करने वाले शुद्र के कान में पिघला शीशा डाल दिया जाये।

अंग्रेजों के राज में भी शिक्षा का अधिकार सीमित रहा और ऐसी उपाय निकाली गयी कि सभी लोग शिक्षा ग्रहण न कर सकें। मैकाले ने सचेत तौर पर, क्लर्क पैदा करने के उद्देश्य से शिक्षा-नीति तैयार की। आगे चलकर शिक्षा जब अंग्रेजों के नियन्त्रण से बाहर जाने लगी, तो उन्होंने इस पर ध्यान देना कम कर दिया। शिक्षा का यही स्वरूप आजादी के बाद भी मूलत: बना रहा और आज भी जारी है।

वर्गों में बँटे हुए समाज में शासक वर्गों की सत्ता को बनाये रखने के लिए यह जरूरी होता है कि शासित वर्गों में एक खास तरह की चेतना पैदा की जाये, जो शासक वर्गों के हितों के अनुरूप हो। जो वर्ग सत्ता में होता है, उसी के विचार समाज में प्रभावी होते हैं। इसलिए,

बौद्धिक शक्ति सत्ताधारी वर्गों के हाथ में होती है। दूसरे शब्दों में, जिस वर्ग के हाथों में भौतिक सम्पदा का नियन्त्रण होता है, उसी के हाथों में बौद्धिक सम्पदा का नियन्त्रण होता है और इसके जरिये वह शासित वर्गों के विचारों को दबा कर रखता हैं इसप्रकार सत्ताधारी वर्ग का विचार शासित वर्ग के साथ उसके शोषण के सम्बन्धों का बौद्धिक रूप है। सत्ताधारी शासक वर्ग के पास चेतना होती है इसलिए वे यह सोच सकने की क्षमता रखते हैं कि समाज में क्या बदला जा सकता है और उसे कितना और किस हद तक आगे ले जाया जा सकता है। वे चिन्तकों और विचारकों को भली पैदा करते हैं। इसलिए वे उन्हें पैदा करने वाले के रूप में भी शासन करते है। सार रूप में वे अपने युग के विचारों को बनाते भी हैं और उसे संचालित भी करते हैं।

वर्गीय समाज में शासक वर्ग सचेत तौर पर विचारों के उत्पादन तथा उसके नियन्त्रण का रास्ता ढूँढ़ता है जैसे-किन विषयों पर शोध किया जाय, शोध से प्राप्त परिणामों पर किसका नियन्त्रण हो और उन परिणामों को समाज के किस घेरे तक पहुँचाया जाय, इत्यादि। अत: शिक्षा का विकास उसी हद तक होता है जिस हद तक वह शासक वर्ग के स्वार्थों को पूरा करने में सहायक होती है।

लेकिन इसका दूसरा पहलू भी है। समाज हमेशा शासक वर्गों की मर्जी से ही नहीं चलता। समाज जैसे-जैसे आगे बढ़ता है उसी पुराने ढाँचे के भीतर से ही सत्ता को चुनौती देने वाली नयी शक्तियों का उदय होने लगता है। हमारे देश का इतिहास भी ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है। लोकायत, चार्वाक और बौद्ध-दर्शन ने स्थापित दार्शनिक प्रणालियों और मान्यताओं को चनौती दी। ये शासकवर्गीय ढाँचे के भीतर से पैदा हुए थे। गार्गी ने याज्ञवल्क को "सीमा के पार" जाकर चुनौती दी। वह भी स्थापित व्यवस्था की ही ऊपज थी। मनुवादी-ब्राहाणवादी व्यवस्था के विरोध के स्वर भी उसी व्यवस्था के भीतर से फूटे। अंग्रेजी शासन के अधीन शिक्षा ग्रहण करके गोखले, और रानाडे जैसे लोग पैदा हुए और अंग्रेजी शासन का पुरजोर विरोध किया।

सामन्ती समाज की प्रकृति पर निर्भरता बहुत अधिक थी। उस समाज में उत्पादन का स्वरूप अत्यन्त भोंड़ा था। उत्पादन के औजार बहुत साधारण थे और उन्हें संचालित करने के लिए किसी विशेष कौशल की जरूरत नहीं थी। दिन-प्रति-दिन के अनुभवों से ही उन औजारों को प्रयोग में लाना सीखा जा सकता था। पुश्तैनी पेशों से जुड़े लोगों में संचित कौशल एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को बिना विशेष प्रशिक्षण दिये व्यवहार के जरिये हस्तान्तरित हो जाता था, जैसे-हल चलाना, कपड़े बुनना, औजार बनाना इत्यादि। शासित वर्ग के प्रचलित विचार भाग्यवाद, पूर्वजन्म के कर्मों के फल का विचार, ईश्वरीय अनुकम्पा का विचार, इत्यादि।

दूसरी ओर, समाज के शीर्ष पर बैठे थोड़े से अभिजात वर्ग को शिक्षा की जरूरत थी। विरासत में मिले ज्ञान व अनुभवों के अलावा पुरोहितों को शास्त्र-शिक्षा, वैद्य को चिकित्सा शास्त्र राजा और सैनिकों को राज-काज व सैन्य शिक्षा तथा वणिको को व्यवसाय सम्बन्धी साल गणना और लिखा-पढ़ी की शिक्षा दी जाती थी। कुल मिलाकर पूरे समाज के लिए सार्वभौम शिक्षा की जरूरत नहीं थी।

पूँजीवादी विकास के साथ मनुष्य की प्रकृति पर निर्भरता समाप्त होने लगी। सतत और

सक्रिय हस्तक्षेप करके पिछले समाज की सीमाएँ तोड़ दी गयी। नयी-नयी मशीनों, आधुनिक उद्योगों आदि के विकास के कारण काम करने वाली आबादी को अर्द्धबर्बर या अर्द्धगुलाम की अवस्था में नहीं रखा जा सकता था। आधुनिक मशीनों को चलाने के लिए चेतना-सम्पन्न, कुशल, अनुशासित और कर्तव्य परायण मजदूरों की आवश्यकता थी। इन मशीनों को चलाने वालों को कोड़े से नियन्त्रित नहीं किया जा सकता था। वे चेतना से ही संचालित हो सकते थे।

इसप्रकार, हम देखते हैं कि पूँजीवादी समाज ने शिक्षा और चेतना के प्रसार के मामले में सामन्ती शासक वर्गों की सीमाओं को तोड़ दिया। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि शिक्षा का वर्गीय उद्देश्य या वर्गीय चरित्र समाप्त हो गया। यह तो शासक वर्गों की मजबूरी थी कि वे अपने उत्पादन और मुनाफे की व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने के लिए समाज के एक बड़े घेरे में शिक्षा और चेतना का प्रसार करें।

पूँजीवादी समाज में हर चीज की तरह शिक्षा भी एक माल बन जाती है और इसे भी खरीदा-बेचा जाता है। इसतरह, ज्ञान भी मुनाफा कमाने का एक साधन बन जाता है। विभिन्न प्रकार के वैज्ञानिक शोधों का पेटेण्ट करा कर उसपर मुनाफा कमाना, ज्ञान को बेचकर उसपर मुनाफा कमाना, ज्ञान से उत्पादन बढ़ाकर उसपर मुनाफा कमाना, जेनिटक इंजीनियरिंग, सूचना-प्रौद्योगिकी, विज्ञान और तकनीक तथा शोध उद्योग द्वारा मुनाफा कमाना इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। ज्ञान के इन क्षेत्रों पर उद्योग-जगत का ही कब्जा है।

पिछले कुछ दशकों पर सरसरी नजर डालने पर हम पाते हैं कि अर्थव्यवस्था में औद्योगिक उत्पादन का हिस्सा घटता जा रहा है और सेवाक्षेत्र का हिस्सा बढ़ता जा रहा है। सेवाक्षेत्र में शिक्षा और ज्ञान सम्बन्धी सेवाओं के उत्पादन का काफी बड़ा योगदान है। यही कारण है कि सेवाक्षेत्र और तथाकथित ज्ञान-उद्योग को विश्व व्यापार संगठन के अधीन करने को लेकर पूँजीवादी देश इतने बेताब थे।

अब, चूँकि ज्ञान मुनाफा कमाने का प्रत्यक्ष साधन बन गया है, इसलिए शिक्षा और शोध को तथा विभिन्न विषयों को अलग-अलग खानों में बाँट दिया गया है। परिणामस्वरूप समूचे प्रकृतिविज्ञान, सामाजिक विज्ञान और ज्ञान के अन्य क्षेत्रों के बीच के आपसी रिश्तों और उनके समग्र ज्ञान से लोग अपरिचित हो गये हैं।

विज्ञान का विद्यार्थी अर्थशास्त्र, इतिहास और कला संकाय के अन्य विषयों को तुच्छ समझता है और कला के विद्यार्थी के लिए विज्ञान अर्थहीन हो जाता है। ऐसा क्यों होता है? एक ओर तो पूँजीपति वर्ग को ज्ञान-विज्ञान को उत्पादक शक्ति के रूप में निरन्तर विकसित करते जाने की जरूरत होती है। दूसरी ओर पूँजीपति वर्ग और उत्पादक वर्ग के बीच शाश्वत अन्तरविरोध के चलते पूँजीपति वर्ग, जिसके नियन्त्रण में शिक्षा, ज्ञान-विज्ञान और बौद्धिक उत्पादन होता है उत्पादक वर्गों को असीम और मनचाहे ज्ञान से लैस होने से रोकने के उपाय करता है। परिणाम होता है कि शिक्षा और ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों की खानाबन्दी।

संक्षेप में, पूँजीवादी साम्राज्यवादी शासन प्रणाली के तहत ज्ञान विज्ञान पूँजीपति वर्ग के हितों का गुलाम बन जाता है और व्यापक समाज का हित पीछे छूट जाता है। यह ज्ञान-विज्ञान

चूँकि सारत: पूँजीपति वर्ग के स्वार्थों को पूरा करता है, इसलिए सत्ता को वैचारिक अवलम्ब प्रदान करता है। इसके माध्यम से शासित वर्ग की चेतना को शासक वर्ग अपने हितों के अनुकूल ढालने की कोशिश करता है। लेकिन साथ ही साथ, चूँकि उसे अपनी उत्पादक शक्तियों का विकास भी करना होता है, अत: शासित वर्ग को शिक्षित भी करता है और अपने लिए सिरदर्द पैदा कर लेता है। यही चेतना शासक वर्ग की शासन-व्यवस्था को बदल कर नयी व्यवस्था बनाने को प्रेरित करती है।

अंग्रेजी राज में शिक्षा और शिक्षा नीति

ब्रिटिश शासन काल में अंग्रेजों ने अपनी औपनिवेशिक सत्ता की जरूरतों और घृणित स्वार्थों को ध्यान में रखते हुए ही भारत में शिक्षा की बुनियाद रखी। जाहिर है कि उनका मकसद भारतीय जनता को पश्चिमी ज्ञान विज्ञान से लैस करना नहीं हो सकता था। भारत में अपने बाजार के विस्तार और बहुमूल्य प्राकृतिक संसाधनों के दोहन के लिए भारत में ही कुछ कुशल, स्वामिभक्त और अनुशासित कारिन्दे तैयार करने के सीमित लक्ष्य को ध्यान में रखकर ही उन्होंने शिक्षा की शुरूआत की थी।

19 वीं सदी के प्रारम्भ में यूरोप और इंग्लैण्ड में औद्योगिक पूंजी का तेजी से विस्तार और केन्द्रीकरण हो रहा था। भारत जैसे उपनिवेशों में ब्रिटिश मालों के लिए बाजार के विस्तार और कच्चा माल के निर्बाध दोहन के लिए यहाँ की जनता को एक सीमित हद तक शिक्षित करना जरूरी हो गया था। इसी संक्रीर्ण उपयोगितावादी नजरिये से वहाँ के पूंजीवादी बुद्धिजीवियों उदारपंथियों और पत्रकारों ने उपनिवेशों में अंग्रेजी भाषा, संस्कृति और शिक्षा के प्रचार-प्रसार की वकालत की। इस विषय पर इंग्लैण्ड में चलने वाली बहसों और सुझावों का ही परिणाम था कि लार्ड विलियम बेन्टिक ने लार्ड मैकाले नामक अंग्रेज शिक्षा शास्त्री से इस सम्बन्ध में सुझाव आमंत्रित किया।

लार्ड मैकाले ने 2 फरवरी 1835 को भारत के गवर्नर जनरल बेन्टिक को लिखे पत्र में कहा था कि "कुछ चुनिन्दा मूल निवासियों(भारतीयों) को हमें इस तरह शिक्षित करना चाहिए कि वे हमारे और हमारे द्वारा शासित करोड़ों लोगों के बीच एक माध्यम की भूमिका निभायें। हमें शिक्षित लोगों का एक ऐसा वर्ग तैयार करना चाहिए, जो रक्त और रंग में तो भारतीय हो लेकिन अपनी रूचि, दृष्टि, नैतिकता और बुद्धि से अंग्रेज हो।"

इस पत्र के एक माह बाद ही लार्ड बेन्टिक ने अपने आदेश में लिखा कि "ब्रिटिश सरकार का मुख्य लक्ष्य यूरोपीय साहित्य और विज्ञान का बढ़ावा देना है- शिक्षा के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सारा धन केवल अच्छी तरह अंग्रेजी शिक्षा देने पर खर्च किया जायेगा।"

विलियम बेन्टिक द्वारा भारत में शिक्षा के क्षेत्र में उठाये गये कदमों को अंग्रेज पूंजीपतियों का भरपूर समर्थन मिला। इसके कई कारण थे । एक कारण तो यही था कि इंग्लैण्ड में ऐसी राय रखने वालो की संख्या काफी तेजी से बढ़ रही थी कि भारत में अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार-प्रसार का सीधा लाभ ब्रिटिश उपनिवेशवादियों और अंग्रेज पूंजीपतियों को मिलेगा। 1838 में चार्ल्स ई ट्रीवेल्यान ने लिखा था कि अंग्रेजी शिक्षा के परिणाम स्वरूप और कुछ भले ही न हो, लेकिन इससे भारत के शिक्षित तबके के साथ अंग्रेज शासकों का घुलना-मिलना आसान हो जायेगा। उसका तर्क था कि इसके चलते पढ़े लिखे भारतीय अंग्रेजों के साथ फिरंगियों की तरह बर्ताव नहीं करेंगे, बल्कि वे हमारे बुद्धिमान और उत्साही सहयोगी बनेंगे।"

दूसरा कारण यह था कि उपनिवेशवादियों ने शिक्षा का ढांचा खड़ा करते समय अपने शासन-प्रशासन की व्यवहारिक जरूरतों को भी ध्यान में रखा था। भारत में सरकारी काम-काज संभालने के लिए अंगेजों को बड़ी संख्या में क्लर्कों की जरूरत थी 1833 में चार्टर एक्ट पास होने के दौरान ईस्ट इंडिया कम्पनी गम्भीर संकट का सामना कर रही थी। इस संकट से बचने के लिए जो सुझाव दिये गये थे, उनमें यह भी एक था कि यूरोपीय कर्मचारियों पर होने वाले भारी खर्चे में कटौती की जाय और उनकी जगह भारतीयों को बहुत थोड़ी तनख्वाह पर काम में लगाया जाय। उक्त चार्टर ने भारतीयों के लिए उपनिवेशिक शासन के अंतर्गत निचले स्तर की नौकरी पाने का रास्ता साफ कर दिया। लेकिन उन नौकरियों के योग्य बनाने के लिए भारतीयों को अंग्रेजी शिक्षा देना भी जरूरी था। 1835 की नीति इस काम के लिए कारगर साबित हुई।

अंग्रेजी शिक्षा को मिलने वाले समर्थन का तीसरा कारण यह भी था कि नये-नये किस्मों के माल की बिक्री के लिए भारतीय उपभोक्ता वर्ग के बीच अंग्रेजी रहन सहन अंग्रेजी मूल्यों और अभिरुचियों का विकास किया जा सके। मैकाले का मानना था कि "यदि उन्हें हमारे कपड़े पहनने हैं और हमारे छुरी-कांटे से खाना है तो उन्हें अंग्रेजी उत्पादों का मोल भाव करने या खरीदने में ज्यादा अनजान और निर्धन नहीं होना चाहिए।" भारत में लंकाशायर और शैफील्ड की फैक्टरियों के माल खपाने के लिए जरूरी था कि यहाँ के खरीदारों में अंग्रेजियत का प्रचार-प्रसार हो। अंग्रेजी शिक्षा इसकी पूर्व शर्त थी। मैकाले की शिक्षा नीति, बेन्टिक का आदेश तथा भारत में अग्रेंजी शिक्षा की स्थापना और विकास के पीछे औपनिवेशिक शासकों की ऐसी ही प्रत्यक्ष-परोक्ष जरूरतें काम कर रही थी।

1837 में शासकीय और अदालती भाषा के रूप में फारसी भाषा को हटाकर उसकी जगह अंग्रेजी को स्थापित किया गया तथा 1844 में हार्डिंग ने अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त भारतीयों को नागरिक सेवाओं के निम्न स्तर की नौकरियों में वरीयता देने का आदेश दिया। इन दोनों घटनाओं के चलते शिक्षा के पुराने देशी तौर-तरीकों (जैसे-मदरसा, गुरूकुल इत्यादि) का महत्व काफी कम हो गया और अंग्रेजी शिक्षा की वरीयता स्थापित हो गयी।

20 वर्षों में ही भारत में अंग्रेजी शिक्षा की लोकप्रियता और माँग में तेजी से बढ़ोत्तरी हुई। इसकी पूर्ति के लिए 1854 में सर चार्ल्सवुड की विज्ञप्ति जारी हुई जिसके जरिये बम्बई, कलकत्ता और मद्रास में विश्वविद्यालयों की स्थापना की सिफारिश की गयी थी। साथ ही उसमें भारत के अभिजात वर्ग के एक हिस्से को उच्च शिक्षा देने और शिक्षा का एक प्रशासनिक ढाँचा बनाने का भी सुझाव दिया गया था। वुड विज्ञप्ति को अमल में लाते हुए 1857 में कलकत्ता, मद्रास और बम्बई में विश्वविद्यालय की स्थापना हुई और साथ ही शिक्षा का वह प्रशासनिक ढाँचा भी अस्तित्व में आया जो आजादी के बाद भी थोड़े बहुत फेर बदल के साथ अभी जारी रहा है। अगले 50 वर्षों तक शिक्षण संस्थाओं का काफी विस्तार हुआ।

यह सही है कि अंग्रेजो ने अपनी उपनिवेशवादी सत्ता के छुद्र स्वार्थों को ध्यान में रखते हुए ही शिक्षा की बुनियाद रखी थी, लेकिन उस शिक्षा के जरिये एक तरफ जहाँ अंग्रेज परस्त

बाबुओं, मुदर्रिशों, मुंशियों और ओवरशीयरों को अंग्रेजी मार्का भारतीयों की जमात पैदा हुई वहीं दूसरी ओर उसके गौण परिणाम के तौर पर भारतीय छात्रों-बुद्धिजीवियों में राष्ट्रवादी चेतना के अंतर्सम्बन्ध को देखते हुए अंग्रेज शासकों ने शिक्षा को सीमित करने के लिए शिक्षण संस्थाओं के अनुदान में कटौती के कई गुप्त आदेश जारी किये। पूना में एक प्लेग अफसर की हत्या के बाद राज्य के सचिव हेमिण्टन ने लार्ड कर्जन को लिखा कि अंग्रेजी शिक्षा के पाठयक्रम और उसे पढ़ कर निकलने वाले भरतीय विद्यार्थियों के मन में ब्रिटेन के प्रति घृणा को हम अलग-अलग नहीं कर सकते।

छात्रों में राष्ट्रवाद की बढ़ती भावना को नियंत्रित करने के लिहाज से शिक्षा प्रणाली में संशोधन के लिए लार्ड कर्जन ने 1902 में सर थामस रैले की अध्यक्षता में एक कमीशन गठित की जिसकी सिफारिशों के आधार पर 1904 में रैले एक्ट पारित हुआ। इस एक्ट के जरिये शिक्षा पर अंकुश लगाने के विभिन्न उपाय किये गये और विश्वविद्यालय के प्रशासिनक ढांचे के फेर बदल की सिफारिश की गयी। लार्ड कर्जन के इन सुधारों ने एक बार फिर यह साबित कर दिया कि शिक्षा को शासक वर्गों की जरूरत के अनुरूप ही ढाला जाना था। जब भारत में शिक्षा का सीमित प्रसार भी अंग्रेजो के गले की हड्डी बन गया, तब इस अनुभव से सीखते हुए उन्होंने अन्य उपनिवेशों खास कर अफ्रीकी देशों में उच्च शिक्षा के प्रसार के प्रति सावधानी बरती।

20 वीं सदी के प्रारम्भ में विश्व विद्यालय परिसर में होने वाले राजनीतिक हलचल नवोदित भारतीय पूंजीपति वर्ग और मध्यमवर्ग की आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति थे। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने 1902 से 1904 तक अपने तीन अधिवेशनों में रैले कमीशन की सिफारिशों के खिलाफ प्रस्ताव पास किया, सीनेट में भारतीयों ने इस मुद्दे को उठाया तथा सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और गोपालकृष्ण गोखले ने सड़क पर उतरकर इसके खिलाफ होने वाले विरोध प्रदर्शनों का नेतृत्व किया।

अंग्रेजों के शासन काल में भारतीय और अंग्रेज पूंजीपतियों के बीच आपसी हितों के टकराव की अभिव्यक्ति शिक्षा क्षेत्र में भी हुई। ब्रिटिश पूंजीपति उच्च शिक्षा को सीमित करने और छात्रों की राजनीतिक भागीदारी पर रोक लगाने का प्रयास कर रहे थे जबकि भारतीय पूंजीपति राष्ट्रीय आंदोलन को आगे बढ़ाने और भारत में स्वावलम्बी पूंजीवादी विकास के माध्यम के रूप में उच्च शिक्षा के महत्व को समझ रहे थे। 1907 में स्वदेशी आंदोलन के नेताओं ने यादवपुर इंजीनियरिंग कालेज की स्थापना की। 1904 में विज्ञान की उच्च शिक्षा पाने के लिए भारतीय छात्रों को ब्रिटेन, अमेरिका और जापान भेजने में सहायता के लिए कलकत्ते में एक एशोसिएशन की स्थापना की गयी थी। जमशेद जी टाटा ने वैज्ञानिक और तकनीकी से लैस मानव शक्ति की जरूरत को देखते हुए 1909 में बैंगलोर में इंडियन इस्टीयूट आफ साइंस की स्थापना की थी। 1911 में गोखले ने सबके लिए नि:शुल्क और अनिवार्य शिक्षा से सम्बन्धित एक प्रस्ताव पेश किया था, जिसे रद्द कर दिया गया।

यह सही है कि अंग्रेजो की शिक्षा व्यवस्था के द्वारा देश के रानाडे, गोखले, भाभा और

रमन जैसे अनेक विद्वान मिले। लेकिन दूसरी ओर यह भी एक दु:खद सच्चाई है कि इसने भारतीय जनमानस को अतीत की विरासत से काट दिया और उन पर औपनिवेशिक दासता के मूल्यों और विचारों की गहरी छाप छोड़ दी। आज भी उच्च शिक्षा प्राप्त लोगों के एक बड़े हिस्से में उपनिवेशिक मानसिकता का काफी प्रभाव मौजूद है। जन सामान्य में प्रचलित यह उक्ति कि "अंग्रेज गये अंग्रेजियत छोड़ गये" इसकी स्पष्ट और मुखर अभिव्यक्ति है। आजादी के बाद शासक वर्गों ने अपने निहित वर्गीय स्वार्थो के कारण शिक्षा को औपनिवेशिक प्रभावों से मुक्त करने के बजाय उसे बनाये रखा और आज वैश्वीकरण के इस दौर में अंग्रेजियत के झाड़-झंखाड़ को फैलने के लिए अनुकूल आबो हवा मिल गयी है।

नई शिक्षा नीति-१९८६: शिक्षा पर चौतरफा हमलों की शुरूआत

शिक्षा पर देशी-विदेशी पूंजी के जिस चौतरफा हमले को आज हम रोजमर्रे के अनुभवों से साफ-साफ महसूस कर रहे हैं उसकी विष-बेल 'नई शिक्षा नीति' के नाम पर 1986 में राजीव गांधी के प्रधानमंत्रीत्व में रोपी गयी थी। आज व्यवसायीकरण निजीकरण, पाठ्यक्रम और ढ़ांचे में तोड़-मरोड़ जो तमाम जन-विरोधी, समाज विरोधी फैसले लिए जा रहे हैं, उनकी जड़ें इसी शिक्षा नीति में है। इसलिए यह जरूरी है कि इस नीतिगत दस्तावेज के विभिन्न पक्षों की एक साफ समझ हासिल की जाय। इसी की रोशनी में शिक्षा के क्षेत्र में अपने चारों ओर हो रही साजिशों को हम अच्छी तरह समझ सकते हैं।

1980 का दशक भारत में ही नहीं बल्कि पूरी दुनिया में पूंजीवाद के गहराते संकट का दशक था। साम्राज्यवादी देशों का संकट यह था कि अपनी इफरात पूंजी और तकनोलाजी कहाँ लगाये और अपने तैयार माल को कहाँ खपाये। दूसरी ओर भारत के पूंजीपतियों के सामने पूंजी और तकनीक के अभाव का संकट था। आजादी के बाद भारत के शासकों ने जिस पूंजीवादी आर्थिक विकास का रास्ता चुना था, उसमें ही यह ठहराव अन्तर्निहित था। एक तरफ साम्राज्यवादी पूंजी पर निर्भरता और दूसरी ओर राजा-रजवाड़ों, नवाबों और जमींदारों के साथ समझौते और रियायत के चलते उन्होंने यहाँ की उत्पादक शक्तियों को सामंती-साम्राज्यवादी बेड़ियों से पूरी तरह मुक्त नहीं किया। अपने छुद्र वर्गीय स्वार्थों के चलते पूंजीपति वर्ग ने देश की बहुसंख्यक ग्रामीण आबादी को विकास की धारा में शामिल नहीं किया। उन्होने सामंती उत्पादन प्रणाली को भी अपने बाजार और कच्चा माल की सीमित जरूरतों के अनुरूप ही धीरे-धीरे और अप्रत्यक्ष रूप से तोड़ने का काम किया। परिणाम स्वरूप समाज का एक बहुत बड़ा हिस्सा विकास के दायरे से बाहर रहा और घरेलू बाजार एक सीमा से आगे नहीं बढ़ सका।

बाजार और आर्थिक विकास के संकुचित होने के कारण शिक्षित प्रशिक्षित श्रम-शक्ति के लिए रोजगार के अवसर प्रदान करना पूँजीवाद के लिए संभव नहीं रह गया। 60 के दशक तक अर्थव्यवस्था के ठहराव और बेरोजगारों की भीड़ सतह पर दिखाई देने लगी। शिक्षित बेरोजगारों का असंतोष और आक्रोश विभिन्न आंदोलनों के रूप में फूट पड़ा। शासक वर्गों ने यह महसूस किया कि अब उच्च शिक्षा पर धन खर्च करना बेकार है, क्योंकि उससे पैदा होने वाले 'उत्पाद' को खपाने की औकात उनमें नहीं है। और इस लिए उनका मुनाफा बढ़ाने में भी ऐसे लोगों की कोई भूमिका नहीं है।

इन्हीं हालात में राजीव गांधी सरकार ने 'नई शिक्षा-नीति' लागू की जिसका केन्द्रीय मुद्दा मुटठीभर 'प्रतिभाओं' को बेहतर शिक्षा दिलाने पर ध्यान केन्द्रीत करना और आम जनता की संतानों को शिक्षा पाने के योग्य न मानते हुए, उन्हें उपेक्षा बदहाली और पिछड़ेपन का शिकार बनाये रखना था।

चूंकि 80 के दशक में ही विकास के नाम पर विश्व बैंक से कर्जों की बड़ी-बड़ी किस्तें ली गयीं थी इसलिए इस साम्राज्यवादी संस्था का देश के अंदरूनी मामलों में हस्तक्षेप बढ़ने लगा और उसने सरकार को बजट घाटा कम करने के बहाने शिक्षा के खर्च में कटौती करने का सुझाव दिया। साम्राज्यवादी ताकतों की मंशा यह थी कि भारत जैसे पिछड़े देशों के बौद्धिक विकास को अवरुद्ध करके उन्हें साम्राज्यवादी देशों के ऊपर निर्भर बनाये रखना आसान होगा।

राजीव गांधी ने 'इक्कीसवीं सदी में प्रवेश' और 'खुले दरवाजे की आर्थिक नीति' की गुहार लगाते हुए आयात-निर्यात को बढ़ावा देने और साम्राज्यवादी देशों के साथ आर्थिक गठबंध न कायम करने की दिशा में शुरूआती कदम बढ़ाया। आजादी के बाद निर्धारित, आयात प्रतिस्थापन और स्वावलम्बी विकास की दिशा को त्यागने के संकेत भी, इसीदौरान मिलने शुरू हो गये थे, जिसे नरसिंहा राव सरकार ने 1991 में निर्णायक स्थिति में पहुंचा दिया।

सातवीं पंचवर्षीय योजना के दस्तावेज में इन बातों की झलक दिखाई देती है। जिसमें कहा गया है कि "नीति सामंजस्य की सफलता अन्य बातों के साथ-साथ बड़ी फर्मों के रूख और बड़े व्यापारी घराने, जो वित्त जुटायेंगे, वितरण संगठित करेंगे और निर्यात के लिए सम्पर्क विकसित करेंगे, उस पर निर्भर करेगी।"

चूंकि भारत के पूंजीपति वर्ग ने घरेलू बाजार का एक हद से ज्यादा विस्तार नहीं किया था और उनकी तकनोलॉजी भी पिछड़ी हुई थी, इसलिए विदेशी पूंजी और विदेशी तकनीक का आयात करना उनकी फौरी जरूरत थी। जाहिर है कि आधुनिक तकनीक के आयात के साथ उनके संचालन और प्रबंधन के लिए प्रशिक्षित और तकनीकी रूप से कुशल लोगों की भी जरूरत थी। जिसके लिए शिक्षा व्यवस्था में बदलाव करना लाजिमी था।

अगस्त 1985 में राज्य शिक्षा मंत्रियों के सम्मेलन में प्रधानमंत्री ने भविष्य की ओर संकेत करते हुए कहा था कि-"हम स्वयं को शेष दुनिया से अलग करके बैलगाड़ी युग में नहीं रह सकते। . . . हम पुरानी तकनीक पर निर्भर नहीं रह सकते, क्योंकि यह हमारे लिए अधिक खर्चीली है। और जब हम अपनी पुरानी तकनीक के खर्चे देखते हैं तब मामला यह नहीं रह जाता कि इनसे कितने लोगों को रोजगार मिलता है और कितने लोग बेरोजगार रह जाते हैं बल्कि मुद्दा यह है कि लागत के अनुपात में उत्पादकता कितनी है।"

'नई शिक्षा नीति' को शासक वर्गों की आर्थिक दिशा में बदलाव की इस पृष्ठभूमि में ही देखा जाना चाहिए।

'नई शिक्षा नीति' का आधारभूत दस्तावेज 'शिक्षा की चुनौती: एक नीति सम्बन्धी परिप्रेक्ष्य, शिक्षा की दुर्दशा पर पश्चाताप और भविष्य की चिंताओ से भरा पड़ा था। लेकिन उनके द्वारा सुझाया गया समाधान इस बात से तय होना था कि नीति-निर्माता इस समस्या को कहाँ खड़े होकर देख रहे थे, उनकी पक्षधरता किस वर्ग के साथ थी, और वे क्या चाहते थे। दस्तावेज के इन अंशों में इसे साफ-साफ देखा जा सकता है- "अन्य विकासशील देशों की तुलना में प्रारम्भिक शिक्षा के क्षेत्र में हमारी स्थिति बहुत ही दयनीय है। . . . इक्कीसवी सदी में प्रवेश करते समय हमारे यहाँ अनपढ़ लोगों की संख्या इतनी बढ़ जायेगी कि स्थिति संभालनी

मुश्किल हो जायेगी। गरीब लोगों का कष्ट इस तरह और बढ़ जायेगा। प्रौढ़ लोग निचले स्तर पर गुजर बसर करेंगे और उनके बच्चे नासमझी और फटेहाली की जिंदगी बितायेंगे। यहाँ तक कि अपेक्षाकृत सम्पन्न लोगों पर भी इसका प्रभाव पड़ेगा और गरीब तथा नासमझ उनके गले में चक्की के पाटो की तरह लटके रहेंगे। इस तरह के दुहरे नुकसान को देश शायद अधिक समय तक बर्दाश्त नहीं कर सकेगा। अगर इस समय भी कोई ठोस कदम नहीं उठाया गया तो इतना तनाव उत्पन्न हो सकता है कि कानून और व्यवस्था बनाये रखना मुश्किल हो जायेगा।"

आजादी के बाद गठित सभी आयोगों ने शिक्षा पर विचार करते हुए सम्पूर्ण भारतीय जनता को शिक्षा के दायरे में लाने को अपना लक्ष्य बनाया था। चाहे दिखावे के तौर पर ही सही, उन्होंने गरीब, अनपढ़ लोगों के प्रति अपने दायित्व का विनम्र इजहार किया था, उन्हें बोझ और सिरदर्द के रूप में पेश नहीं किया था। मन में चाहे जो भी रहा है, लेकिन किसी भी आयोग की सिफारिश में जनता की बहुसंख्यक आबादी के प्रति हिकारत और नफरत देखने को नहीं मिली थी। जब कि नई शिक्षा नीति के उपरोक्त अंशों में यह नग्न रूप में दिखाई देती है। देश में भावी शिक्षा की दिशा तय करने वाले इस दस्तावेज की सिफारिशों में इसी वर्गीय पक्षधरता की स्पष्ट झलक मिलती है। उसके बाद लगभग 18 वर्ष बीत गये और इन सुझावों को बढ़चढ़ कर लागू भी किया जा चुका है। इस दस्तावेज के प्रमुख बिन्दु निम्नलिखित हैं-

प्राथमिक शिक्षा: 6 से 14 वर्ष तक के सभी बच्चों तक के लिए अनिवार्य और नि: शुल्क शिक्षा के संवैधानिक दायित्व को जिसे 1960 तक पूरा करने का लक्ष्य रखा गया था, उसकी अविध 1990 तक बढ़ाने का प्रस्ताव किया गया। दस्तावेज में इस तथ्य को स्वीकार किया गया कि भारत में शिक्षा पर होने वाला खर्च कई गरीब देशों से भी कम है, लेकिन वित्तीय संकट का हवाला देते हुए इस संवैधाानिक जिम्मेदारी से मुंह मोड़ने का संकेत भी दे दिया गया। इसी का अनुसरण करते हुए सातवी योजना में प्रारम्भिक शिक्षा के लिए सिर्फ 1830. 45 करोड़ रूपया मंजूर किया गया जो अनुमानित व्यय की तुलना में (5000 करोड़ रुपये) बहुत ही कम था। इस अल्प राशि में ही अनौपचारिक शिक्षा और आदर्श विद्यालयों के खर्चे भी शामिल थे। जाहिरा तौर पर यह कदम प्राथमिक शिक्षा को पहले से भी बुरी स्थिति में पहुंचाने वाला था।

आदर्श विद्यालय: सभी बच्चों को न्यायपूर्ण शिक्षा देने के संवैधानिक दायित्व को कंधे से उतार फेंकने के साथ दस्तावेज में यह प्रस्ताव किया गया-"देश के प्रत्येक जिले में केन्द्र सरकार की ओर से दिशा-निर्धारक आदर्श स्कूल(नवोदय विद्यालय) खोलने का निर्णय"। . . .

इसी दस्तावेज में यह भी बताया गया था कि "हमारे देश के 1/5 भाग की आबादी के लिए कोई स्कूल नहीं है। अन्य 4/5 भाग में जो स्कूल है उनमें से 40 % के पास कोई पक्की इमारत नहीं है, 39.72 % के पास ब्लैक बोर्ड नहीं है, 59.5 % के पास पीने का पानी नहीं है और 35 % में 3 या 4 कक्षाओं के लिए एक ही शिक्षक है।" साथ ही यह भी स्वीकार किया गया कि "स्कूल न जाने वालों में से 96 % और बीच में ही स्कूल छोड़ देने वालो में से 84 % उन परिवारों के होते हैं जिनकी वार्षिक आय सभी साधनों को मिलाकर 4000 रुपये से कम

है। स्कूल छोड़ देने वाले बच्चों में से 80 % उन परिवारों के होते हैं जिनका व्यवसाय खेती और मजदूरी है।"

इन क्रूर एवंम नंगी सच्चाईयों को स्वीकार करने के बावजूद दस्तावेज ने शिक्षा की दुर्दशा सुधारने के लिए कोई ठोस सुझाव व संसाधन मुहैया करने की बात नहीं की। इसके विपरीत "योग्य युवकों का पता लगाकर" उन्हें "उत्तम शिक्षा" देने का सुझाव दिया। इसका मतलब साफ है कि शिक्षा को बड़ी आबादी तक पहुंचाने के साथ-साथ उसका स्तर सुधारने के बजाय दस्तावेज के निर्माताओं ने योग्यता के नाम पर शिक्षा को मुट्ठीभर लोगों तक सीमित कर देने का सुझाव दिया।

प्रौढ़ शिक्षा: निरक्षरता के उन्मूलन के लिए सभी बच्चों को प्राथमिक शिक्षा मुहैया कराने के साथ-साथ प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम भी जरूरी है। दस्तावेज में इसके लिए कोई ठोस प्रस्ताव और सुझाव देने के बजाय 'सावधानी पूर्वक विचार करके अभी यह तय करना है' कि "इस बारे में कोई निर्णायक कार्यवाही की जाय" जैसी कोरी लफ्फाजी की गयी है। प्रौढ़ शिक्षा के विकल्प के रूप में राजीव गांधी के जमाने में गांव-गांव में स्कूलों में टी बी लगाकर छात्रों को शिक्षित करने की हवाई योजना लागू हुई थी, जो दो साल के भीतर ही कबाड़खाने में चली गयी।

व्यावसायिक शिक्षा: दस्तावेज में 10+2 प्रणाली में 10वीं के बाद, 2 वर्षों की व्यावसायिक शिक्षा की सिफारिश की गयी, जिसका मकसद 10 वीं से आगे सामान्य शिक्षा पर रोक लगाना और उच्च शिक्षा को सीमित करना था।

1953 में मुदालियर आयोग ने अर्थव्यवस्था की जरूरतों के अनुरूप तकनीशियनों और कुशल कारीगरों की बढ़ती मांग को ध्यान में रखते हुए व्यावसायिक शिक्षा के प्रचार-प्रसार पर बल दिया था। इसे मंजूर भी कर लिया गया था लेकिन व्यवहार में इसे कारगर तरीके से लागू नहीं किया गया। फिर भी, इसके जरिये जो भी कुशल कारीगर तैयार किये गये, उन्हें रोजगार देने में यह व्यवस्था असफल रही। और हर साल भारी संख्या में प्रशिक्षित तकनीशियन बेरोजगारों की भीड़ में शामिल होते गये। ऐसे में खास तौर पर जबकि देश की अर्थव्यवस्था खुले दरवाजे की नीति के तहत उच्च तकनीक और भारी पूंजी के बल पर रोजगारहीन विकास की दिशा में मोड़ी जा रही थी, उस दौरान माध्यमिक शिक्षा के दो वर्षों की सामान्य पढ़ाई को तकनीकी शिक्षा में बदलने या इतने बड़े पैमाने पर व्यावसायिक शिक्षा देने के बारे में बड़ी-बड़ी बातों का भला क्या मतलब था? दरअसल इस तरह की बातों के जरिये शिक्षा के व्यापक उद्देश्यों को सीमित करके उसे रोजी-रोटी कमाने का जरिया बना देना, उच्च शिक्षा को महत्वहीन बना देने की शुरूआत थी। आज यह बात एक 'कामनसेंस' की तरह लोगों के दिमाग में भर गयी है। व्यावसायिक शिक्षा को हर ताले की चाबी बताकर लोगों को ठगने का धंधा खूब चल निकला है।

संकट ग्रस्त पूंजीवादी व्यवस्था पहले भी दुनियां के कई देशों में ऐसे फार्मूले अपनाती रही है कि उच्च शिक्षा में प्रवेश को सीधे रोकने के बजाय वहाँ तक पहुंचने से पहले की मंजिल

पर ही लोगों को किसी दूसरे पाठयक्रम की तरफ मोड़ दो। अमेरिका में 1970 के मध्य में कनिष्ठ महाविद्यालय का सिद्धान्त देकर निस्तरीय प्रणाली शुरू की गयी, जिससे उच्च शिक्षा को सीमित करने में सहायता मिली। व्यावसायिक शिक्षा भी ऐसा ही फार्मूला था।

उच्च शिक्षा: शासक वर्गों की जरूरतों की बेशर्मी से वकालत करते हुए दस्तावेज में कहा गया था कि "समस्या उच्च शिक्षा तक पहुंच की नहीं, बल्कि अपने सीमित साधनों को बेरोजगारों की एक बड़ी संख्या उत्पन्न करने पर खर्च करने से रोकने की है।" इसी के अनुरूप वर्तमान सुविधाओं में कटौती, प्रवेश को सीमित करने और नये संस्थान न खोलने की सलाह दी गयी।

बेरोजगारी का कारण ज्यादा लोगों का पढ़लिख लेना नहीं, बल्कि जनविरोधी नीतियों के चलते आर्थिक विकास का धीमा होना और शासक वर्गों द्वारा जनता की योग्यता और क्षमता को सामाजिक उत्पादन में न लगाना है। यह दोष उल्टे शिक्षा व्यवस्था या शिक्षित लोगों पर मढ़ना और इस बहाने उच्च शिक्षा को ही सीमित कर देना पूंजीवादी निर्लज्जता और धूर्तता के सिवा और कुछ नहीं।

उच्च शिक्षा से भीड़ की छंटाई करने के लिए एक नायाब नुस्खा यह सुझाया गया कि "अब नौकरी से डिग्री को न जोड़ा जाय तो स्नातक स्तर पर भीड़ कम हो जायेंगी और इससे काफी राहत मिलेगी।"

सच तो यह है कि शासक वर्गों के लिए अशिक्षित बेरोजगारों की तुलना में शिक्षित बेरोजगार ज्यादा खतरनाक होते है। विशाल जन समुदाय को बेहतर शिक्षा उपलब्ध कराने का अर्थ है उनकी सामाजिक-राजनीतिक चेतना के स्तर को ऊंचा उठाना। ऐसे में जब समाज की बड़ी बहुसंख्या को हासिए पर फेंकते हुए, मुठ्ठी भर लोगों की खुशहाली का रास्ता तैयार किया जा रहा हो, तो बहुसंख्य आबादी को शिक्षा से रोकना जरूरी होता है। अंग्रेज शासकों का भी उच्च शिक्षा के प्रगति यही रवैया था, जिसकी चर्चा रैले कमीशन के रूप में पहले की जा चुकी है। हमारे नीति-निर्माताओं ने उन्हीं के नक्शे-कदम पर चलते हुए नई शिक्षा नीति के इस दस्तावेज में उच्च शिक्षा को सीमित करने के नये-नये उपाय सुझाये थे।

विशिष्टता के केन्द्र: उच्च शिक्षा पर रोक लगाने के साथ-साथ आयोग ने यह सुझाव दिया कि "उच्च शिक्षित-प्रशिक्षित और अभिप्रेरित जन-शक्ति भी उपलब्ध करानी होगी, जो अर्थव्यवस्था के आधुनिकीकरण और विश्व व्यापार को बढ़ाने में निहित चुनौतियों का सामना कर सके।" और इसके लिए "सभी स्तरों पर श्रेष्ठ संस्थाऐं स्थापित की जाय जिसमें सर्वश्रेष्ठ गुण सम्पन्न लोगों को रखा जाय और बहुत ही सावधानीपूर्वक उनका विकास किया जाय।"

दस्तावेज में केवल 'आदर्श विद्यालयों' और 'विशिष्टता केन्द्रों' में प्रवेश पाने वाले मुटठीभर लोगों के लिए ही गुणवत्ता की सिफारिश की गयी थी। शेष लोगों के लिए 'अनौपचारिक शिक्षा' और 'खुला विश्वविद्यालय' का घटिया विकल्प सुझाया गया था।

दूरस्थ शिक्षा: दूरस्थ शिक्षा की सिफारिश रोजगार में लगे लोगों को अपनी शिक्षा जारी रखने के लिए नहीं बल्कि स्कूलों/कालेजों में दी जाने वाली नियमित शिक्षा के विकल्प के

रूप में की गयी थी। दस्तावेज के अनुसार "अनुमानित आंकड़ों के अनुसार 2000 तक उच्च शिक्षा में नामांकन दुगुना होने की सम्भावना है . . . खुले विश्वविद्यालय या बृहद शिक्षा का कार्यक्रम शुरू करना है . . . जो कि अन्य नामांकनों के ठोस अनुपात को अपने में समाहित करेगा।" इन सुझावों का मकसद दूरस्थ केन्द्रों से जुड़े गरीब छात्रों के मामले में शिक्षा के एक जरूरी पहलू-छात्रों-शिक्षकों के अन्तर-सम्बन्ध को समाप्त करना और संस्थागत उच्च शिक्षा को मुट्ठीभर धनाढ्यों की संतानों के लिए सुरक्षित करना था।

भारी फीस और धन उगाही: दस्तावेज में उच्च शिक्षा के लिए कैपीटेशन फीस का खुला समर्थन करते हुए कहा गया है कि "शिक्षण स्थानों को न्यूनतम निर्धारित दरों से ऊपर दे सकने वाले लोगों से उच्च शिक्षा शुल्क और अपने विकास हेतु अन्य प्रकार का जरूरी ध न वसूलने की छूट होनी चाहिए।" इस सुझाव के द्वारा एक तरफ सरकारी व्यय में कटौती करने, सरकार को अपनी जिम्मेदारी से पल्ला झाड़ने और दूसरी ओर शिक्षा के धंधे में लगे लोगों की कमाई में इजाफा करने का मौका दिया गया। जाहिर है कि यह उच्च शिक्षा में प्रवेश के लिए प्रतिभा और योग्यता की जगह पैसे को निर्णायक बनाने वाला कदम था।

पूँजीपतियों के लिए शोधकार्य: दस्तावेज में राज्य के खर्चे पर निजी पूंजीपतियों को उनकी जरूरत के मुताबिक शोध कार्य की सुविधा देने का प्रस्ताव किया गया। साथ ही 'शोध-कार्य को प्रभावी बनाने' और 'औद्योगिक उत्पादन की विभिन्न धाराओं के साथ जोड़ने' जैसी बातों के द्वारा इसे न्यायोचित ठहराने का प्रयास किया गया।

निजीकरण: दस्तावेज के अनुसार-"करों में उचित छूट देकर निजी उद्यमों को शिक्षा के विकास में, विशेष रूप से व्यावसायिक शिक्षा के विकास में योगदान देने के लिए प्रोत्साहित किया जाय।" इसी सुझाव का नतीजा है कि आज शिक्षा को निजी व्यापार और मुनाफे का धंधा बना देने की प्रवृति समाज में पूरी तरह स्थापित और प्रतिष्ठित हो चुकी है।

जनतांत्रिक अधिकारों पर हमला: दस्तावेज में शिक्षकों पर एक सख्त आचार संहिता लागू करने, छात्रों द्वारा ऐसे किसी भी कार्य को, जो विश्वविद्यालय के उद्देश्यों के खिलाफ जाये, दण्डनीय आचरण मानने, कुछ खास तरह के आंदोलनों पर प्रतिबंध लगाने, छात्र संघों को सीमाबद्ध कर उसे पंगु बनाने, विश्व-विद्यालय परिसरों के लिए विशेष पुलिस फोर्स गठित करने जैसे कई जन-विरोधी, निरंकुशता और दमनात्मक तरीके सुझाये गये। इन सुझावों का उद्देश्य अनुशासन और व्यवस्था के नाम पर विश्वविद्यालय परिसर में अंग्रेजी राज से भी अधि क गैर-लोकतांत्रिक वातावरण तैयार करना था।

शिक्षा संस्थानों की व्यवस्था: विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों की प्रबन्ध व्यवस्था में जन-भागीदारी को सीमित करने, चुनाव की व्यवस्था को समाप्त करने और प्रशासनिक अधिकारियों को निरंकुशतापूर्ण अधिकार देने की सिफारिश की गयी। और उसे तत्काल लागू करना शुरू भी कर दिया गया। कई विश्वविद्यालयों में कुलपति के रूप में आई ए एस, पी सी एस और पूर्व सैनिक अधिकारियों की नियुक्ति की गयी। इसका उद्देश्य

विश्वविद्यालयों की स्वायत्त और लोकतांत्रिक स्वरूप को नष्ट करना और निरंकुशतापूर्ण, केन्द्रीयकृत प्रशासनिक व्यवस्था कायम करना था।

संकटग्रस्त पूंजीवादी व्यवस्था के हित में मुकम्मिल तौर पर तैयार किये गये नई शिक्षा नीति के इस दस्तावेज को स्वीकार किये जाने के साथ ही छात्रों-शिक्षकों और समाज के अन्य तबकों ने इसका भारी विरोध किया। इसके बावजूद सरकार ने इस जनविरोधी नीति को वापस नहीं लिया, बल्कि इसके अलग-अलग हिस्सों को टुकड़े-टुकड़े में लागू करना शुरू किया। लेकिन इसका असली रूप 1990 के बाद ही पूरी तरह सामने आया, जब सम्पूर्ण शिक्षा प्रणाली को देशी-विदेशी पूंजीपतियों के हवाले कर दिया गया।

उच्च शिक्षा में भीड़

नई शिक्षा नीति आने के समय एक ही चर्चा हर जगह सुनाई देती थी कि उच्च शिक्षा में भीड़ बढ़ गयी है। लेकिन सच्चाई क्या है? नई शिक्षा नीति मे जो तथ्य दिये गये हैं, उसी के अनुसार;-

1981 में भारत की 25 वर्ष से अधिक आयु वाले कुल आबादी में से सिर्फ 3.12% लोग ही स्नातक थे। एशिया के कई देशों में यह संख्या 10% से 34% तक थी।

17 से 23 वर्ष की आयु (उच्च शिक्षा में नामांकन की आयु) बाले सिर्फ 4.8% लोग ही उच्च शिक्षा में नामांकित थे। यह संख्या फिलिपिन्स में 25%, दक्षिण कोरिया में 18% और जापान में 30% थी।

क्या कुल आबादी में से 3.12% लोगों का स्नातक होना और 4.8% छात्रों का 12वीं से ऊपर पहुंचना 'भीड़' है?

इसी भीड़ का हवाला देकर दस्तावेज में सुझाव दिया गया था कि "परम्परागत कालेजों तथा विश्वविद्यालयों को और अधिक विस्तार पर पूर्णतया रोक लगा दी जाय।"

आजादी के बाद की शिक्षा नीतियाँ १९४७ से १९८६ तक

आजादी के तुरन्त बाद प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि "यदि विश्वविद्यालय अपने कर्तव्यों का पर्याप्त रूप से निर्वाह कर रहे हों तो इससे राष्ट्र और जनता का काफी भला होगा।" इस कथन में स्वतंत्रता आन्दोलन की मूल भावनाओं की सटीक अभिव्यक्ति थी और यह स्वतंत्र भारत के निर्माण में आर्थिक स्वावलंबन के साथ-साथ बौद्धिक और वैज्ञानिक जन शक्ति के विकास को शासक वर्ग की आकांक्षा के अनुरूप था। इन्हीं जरूरतों के अनुरूप शिक्षा प्रणाली की पुनर्गठन करने के लिए केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड ने दो आयोगों की स्थापना की जिनमें से एक विश्वविद्यालय शिक्षा और दूसरा माध्यमिक शिक्षा से सम्बन्धित था।

स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान जनता से शिक्षा के क्षेत्र में कई वायदे किये गये थे। 14 साल तक की आयु तक नि:शुल्क और अनिवार्य शिक्षा उपलब्ध कराने को लेकर संविधान सभा में काफी बहस चली कि जिसका नतीजा था कि इसे राज्य के नीतिनिर्देशक तत्वों में शामिल किया गया। यह तय किया गया कि 1960 तक सर्वभौम शिक्षा का लक्ष्य प्राप्त कर लिया जायेगा और माध्यमिक शिक्षा के साथ-साथ उच्च शिक्षा में भी स्वाधीन भारत की जरूरतों के अनुरूप आवश्यक संशोधन किए जायेंगे।

1948 में डा. एस. राधाकृष्णन की अध्यक्षता में गठित पहले शिक्षा आयोग में अपनी रिपोर्ट में शिक्षा के उद्देश्यों को इस तरह रेखांकित किया: "जाति-धर्म, निर्धन एवं धनवान के भेदभाव से ऊपर उठने, जनता के सांस्कृतिक स्तर को ऊपर उठाने, जनता की खुशहाली और स्वाधीनता का लक्ष्य हासिल करने और जनतंत्र को प्रभावी बनाने जैसी विराट समस्याओं का सामना करने के लिए शिक्षा प्रणाली को व्यवस्थित करना होगा। इन उद्देश्यों को तेजी से और प्रभावी तरीके से हासिल करने में शिक्षा एक शक्तिशाली हथियार साबित होगी, बशर्ते उसे जनहित में कुशलता पूर्वक लागू किया जाए। भावी पीढ़ी की उच्चतर शिक्षा को हमें अपनी सर्वोच्च प्राथमिकताओं में रखना चाहिए।"(पृष्ट 411) आयोग ने उच्च शिक्षा के विस्तार के लिये जरूरी आर्थिक संसाधन मुहैया करने की शिफारिश की।

राजनीतिक स्वाधीनता को आर्थिक स्वाधीनता में रूपान्तरित करने के लिए बुद्धिजीवियों और प्रशिक्षण प्राप्त मजदूरों की संख्या में बढ़ोत्तरी की जरूरत पर प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने काफी जोर दिया था। राजनीतिक स्वाधीनता के आर्थिक स्वाधीनता में रूपान्तरण का वास्तविक अर्थ यह था कि भारतीय शासक वर्गों द्वारा अपनाए गये पूँजीवादी विकास को तेजी से आगे बढ़ाया जाय। इस वर्गीय आवश्यकता को समझाते हुए आयोग के आवश्यक कार्य थे- शिक्षा प्रणाली को आर्थिक स्वाधीनता की प्राप्ति की ओर उन्मुख कराना और ऐसे मूल्यों का निर्माण करना जो जनतंत्र को प्रभावी बनाने में मदद करें।

आयोग ने संविधान में उल्लिखित आधारभूत सिद्धान्तों-जनतंत्र, न्याय, स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व के आधार का पुनर्गठन करने पर विचार किया। और सुझाव दिया कि जनतंत्र का वैचारिक आधार तैयार करने के उद्देश्य से शिक्षा प्रणाली का पुनर्गठन किया जाए। आयोग की रिपोर्ट में कहा गया- "हमें ज्ञात है कि हिटलर ने 6 वर्षों में जर्मन नवयुवक समुदाय के साथ क्या किया। उस समाज की विशेषताओं के विषय में स्पष्ट है, जिसके निर्माण के लिए वे अपने नागरिकों को शिक्षित कर रहे हैं। साथ ही इसके लिए कौन से मानव गुणों कि आवश्यकता है, यह भी उनके दिमाग में स्पष्ट है। . . . हमारी शिक्षा व्यवस्था को भी सामाजिक व्यवस्था के अपने लक्ष्यों में नीति निर्देशक तत्वों को प्राप्त करना चाहिए क्योंकि इसका निर्माण इन्हीं को ध्यान में रखते हुए किया गया है।"(पृष्ठ 19)

आर्थिक तौर पर "पूरे देश के पैमाने पर ऐसे व्यवसायों और कलाओं की शिक्षा की फौरी आवश्यकता है जो महत्वाकांक्षी युवकों के बढ़ते समुदाय को तकनीशियनों की भाँति विभिन्न उद्योगों में रोजगार हेतु प्रशिक्षित कर सके . . . इससे अभी शुरू हो रहे बहुत से उद्योगों में कुशल कारीगरों की अविरत धारा बनी रहेगी हम इस विषय में दृढ़ हैं कि हर प्रान्त में विशाल संख्या में व्यावसायिक संस्थान होने चाहिए एवं मुख्यत: हर प्रान्त में एक संस्थान ऐसा होना चाहिए जो हर संभव व्यवसाय का प्रशिक्षण देता हो।" (पृष्ठ 59-60)

सितम्बर 1952 में डा. लक्ष्मण स्वामी मुदालियर की अध्यक्षता में नियुक्त माध्यमिक शिक्षा आयोग द्वारा देश के प्रथम संसद में सौपी गयी रिपोर्ट में इस पर पुन: बल डाला गया। उस रिपोर्ट में विकसित हो रही लोकतांत्रिक-सामाजिक व्यवस्था में नागरिक के रूप में अपनी सृजनात्मक भागेदारी के लिए विद्यार्थियों का चरित्र निर्माण अपने देश की आर्थिक समृद्धि के निर्माण में भागीदारी हेतु उनकी व्यावसायिक एवं व्यावहारिक दक्षता में सुधार, तथा उनमें कलात्मक अभिरूचियों के विकास की जरूरत को रेखांकित किया गया। (पृष्ठ 23) इस जरूरत को रेखांकित करते हुए यह सिफारिश की गयी कि "औद्योगिक एवं तकनीकी विकास की योजना पर अमल के लिए प्रशिक्षित एवं दक्ष व्यक्तियों को उपलब्ध करवाने के लिए शिक्षा के सभी चरणों पर तकनीकी कौशल एवं दक्षता को प्रोत्साहन दिए जाने की आवश्यकता है। पिछले समय में हमारी शिक्षा बहुत अधिक अव्यावहारिक और सैद्धान्तिक रही है तथा व्यावहारिक कार्यों से बहुत अधिक असंबद्ध रही है बल्कि सामान्य तौर पर कहा जाए तो यह इस देश के राष्ट्रीय सम्पदा की वृद्धि में कोई बड़ा योगदान देने में असफल रही है। अब इसमें परिवर्तन होना चाहिए . . ." (पृष्ठ 27) एक नव स्वाधीन राष्ट्र के शासक वर्ग की आवश्यकताओं की यह अर्थपूर्ण अभिव्यक्ति थी।

इस प्रकार उक्त रिपोर्ट में तकनीकी विद्यालयों बहु-तकनीकी विद्यालयों और बहुद्देश्यीय शिक्षा को मजबूत बनाने तथा केन्द्रीय तकनीकी संस्थानों आदि की शुरूआत करने की यानि बड़ी संख्या में तकनीकी मानव शक्ति उत्पन्न करने वाले एक ढाँचे की सिफारिश की गयी।

तीव्र पूंजवादी विकास के लिए शासक वर्गों को आवश्यकता थी कि विकास की प्रक्रिया में नौजवानों की अधिकाधिक संख्या खिंचती चली आये। इसी बात को ध्यान में रखते

हुए उसने मातृभाषा में शिक्षा देने की सिफारिश की "माध्यमिक विद्यालय तक शिक्षा का माध्यम मातृभाषा अर्थात सामान्य तौर पर क्षेत्रीय भाषा होना चाहिए।" इसके साथ ही इसमें शिक्षा के विभिन्न चरणों पर हिन्दी और अंग्रेजी के अध्यापन की भी सलाह दी गयी।(पृष्ठ 226) राधाकृष्णन और मुदालियर आयोग की सिफारिशों के अनुरूप आजाद भारत के लिए शासक वर्गों के हितों के अनुरूप शिक्षा का पुनर्गठन किया गया। इसके परिणाम स्वरूप विभिन्न स्तरों पर शिक्षा में तेजी से विस्तार भी हुआ। हालाँकि जनता की आकांक्षाओं और अपेक्षाओं से इसका कोई मेल नहीं था। और 1960 के आरम्भ में शिक्षित बेरोजगारों की संख्या में वृद्धि के लक्षण भी दिखाई देने लगे। इन परिस्थितियों के चलते समूची शिक्षा व्यवस्था की समीक्षा अनिवार्य हो गयी और 1964 में डा. डी. एस. कोठारी की अध्यक्षता में शिक्षा आयेग का गठन किया गया।

कोठारी आयोग ने 1966 में प्रस्तुत अपनी रिपोर्ट में 'शिक्षा एवं राष्ट्रीय विकास' शीर्षक में लिखा: "भारतीय शिक्षा को एक आमूल पुनर्रचना की बल्कि इससे बढ़कर एक आमूल क्रान्ति की आवश्यकता है। वर्तमान कमजोरियों के साथ दोषपूर्ण कदमों से आगे बढ़ने पर और आत्मविश्वास के अभाव में स्थिति पहले की अपेक्षा और अधिक बुरी हो जायेगी।" इसी के मद्दे नजर आयोग ने शिक्षा पर सकल घरेलू उत्पाद का कम से कम 6% खर्च करने का सुझाव दिया।

वस्तुत: यह बयान उस समय के आर्थिक संकट की सामाजिक एवं राजनीतिक अभिव्यक्ति है। एक ओर तो इस आयोग ने निशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा पर खर्च में इजाफा करने का सुझाव दिया, वही दूसरी ओर उच्च शिक्षा को सीमित करने की भी सिफारिश की।

60 के दशक में विकास के पूँजीवादी रास्ते के गहराते आर्थिक संकट की तीक्ष्ण राजनीतिक अभिव्यक्ति हो रही थी-कांग्रेस की नीतियों के खिलाफ जन असंतोष बढ़ रहा था, रोजगार के अवसरों में गिरावट के खिलाफ छात्र समुदाय का विरोध बढ़ता जा रहा था। ऐसे ही अन्य कारणों के चलते चुनावों में कई प्रान्तों से कांग्रेस का सफाया हो गया और इस प्रक्रिया ने छात्र समुदाय की भूमिका पर शासक वर्गों ने गम्भीरता से गौर किया। 1968 में सरकार ने एक नीति प्रस्ताव स्वीकृत किया, जिसका कोठारी आयोग की सिफारिशों से कोई खास संबंध नहीं था। इस प्रस्ताव में केवल शासक वर्ग की आवश्यकता के अनुरूप विषयों के अध्यापन, त्रिभाषा फॉर्मूला, विशिष्टता के केन्द्रों की स्थापना और विश्वविद्यालयों पर नियंत्रण जैसे मुद्दे ही शामिल किये गये। विश्वविद्यालय के नियंत्रण के मामले में सरकार ने कोठारी आयोग की सिफारिशों को कमजोर पाया और इन प्रश्नों के हल के लिए उसने 1969 में गजेन्द्र गड़कर आयोग नियुक्त किया। इस आयोग ने उपकुलपतियों की नियुक्ति, विश्वविद्यालय सीनेट के ढांचे और संगठन आदि के सन्दर्भ में सिफारिशें की, जो उच्च शिक्षा के प्रशासन पर राज्य का नियंत्रण कायम करने से संबन्धित थी। इसकी सिफारिशों को लागू करने का मुख्य कारण यही था कि इसमें शासक वर्गों के हितों को ऊपर रखा गया था।

इस तरह शासक वर्ग एवं सरकार ने शिक्षा के क्षेत्र में भी अपना एकाधिकार कायम कर लिया। शिक्षा एवं शिक्षण संस्थानों पर अपना प्रभावी नियंत्रण कायम करने के लिए आपातकाल

के दौरान संविधान में संशोधन कर के शिक्षा को राज्य सूची से हटाकर समवर्ती सूची में रख दिया। यह इस काल की एक बहुत महत्वपूर्ण घटना थी।

1977 के चुनाव मे कांग्रेस की पराजय के बाद जनता पार्टी की गठबंधन सरकार ने 1978 में शिक्षा नीति मसौदा तैयार करके शिक्षा प्रणाली को दुरूस्त करने का एक दूसरा प्रयास किया। अन्य बातों के साथ इसने 'अनौपचारिक शिक्षा' पर जोर दिया और अपने पक्ष में वैचारिक समर्थन जुटाने के लिए गांधीवादी शिक्षा पद्धति भी प्रस्तुत की। सारांश में इसने निर्धनों के लिए अनौपचारिक व धनवानों के लिए औपचारिक शिक्षा की व्यवस्था की पेशकश की।

आजादी के बाद गठित शिक्षा आयोगों ने विराट और विविधतापूर्ण आबादी वाले देश की सामाजिक-सांस्कृतिक और ऐतिहासिक जरूरतों और जनता की आशा आकांक्षाओं को ध्यान में रखते हुए शिक्षा व्यावस्था का पुनर्गठन नहीं किया। शासक पूँजीपति वर्ग के शुद्र और तात्कालिक स्वार्थ को ध्यान में रखकर ही शिक्षा नीतियों का निर्धारण किया जाता रहा। इसीलिए शिक्षा को औपनिवेशिक और मध्ययुगीन विचारों और मूल्यों मान्यताओं से मुक्त करने तथा लोकतांत्रिक और वैज्ञानिक विचारों के अनुरूप ढालने का काम भी नहीं हुआ। शिक्षा को सर्वसुलभ बताना तो दूर उल्टे तमाम उपायों और बहानों के जरिए मुटठी भर लोगों तक सीमित रखा गया और समाज में धनी गरीब के विभिन्न स्तरों के हिसाब से एक साथ अच्छी-बुरी कई तरह की शिक्षा का संचालन किया जाता रहा। तमाम दावों और वादों के विपरीत शिक्षा पर किसी भी सरकार ने पर्याप्त धन खर्च करने की जहमत नहीं उठाई।

विडम्बना तो यह है कि इन्ही असफलताओं का बहाना बना कर शिक्षा के व्यावसायीकरण, निजीकरण और विदेशी दखलंदाजी को जायज ठहराया जा रहा है।

शिक्षा में बदलावों की भूमिका

12 अगस्त 2005 को सर्वोच्च न्यायालय ने उच्च शिक्षा के मामले में एक महत्वपूर्ण फैसला दिया। मुख्य न्यायाधीश की अध्यक्षता में गठित सात सदस्यीय खण्डपीठ ने प्राइवेट कालेजों के प्रबंधकों की याचिकाओं का निपटारा करते हुए यह फैसला दिया कि "जिन अल्पसंख्यक या गैर-अल्पसंख्यक प्राइवेट संस्थाओं को सरकारी सहायता नहीं मिलती, उनमें सरकार आरक्षण नीति नहीं थोप सकती और न ही उनमें छात्रों के लिए सरकारी कोटा (फ्री सीट) या नामांकन का प्रतिशत ही तय कर सकती है।" इस फैसले से प्राइवेट कालेजों को अप्रवासी भारतीयों के लिए 15% सीटें आरक्षित करने की अनुमति भी मिल गयी। न्यायालय का मानना है कि प्राइवेट कालेजों के प्रबंधको को प्रवेश के लिए छात्रों का चयन करने और उसकी प्रक्रिया तय करने का "निर्बाध बुनियादी अधिकार है।" हमारे देश के शासक शिक्षा व्यवस्था को किस दिशा में ले जा रहे हैं। और भविष्य में इसके क्या नतीजे सामने आने वाले हैं। यह फैसला इसका सबसे ताजा उदाहरण है।

पिछले वर्ष जुलाई 2004 में भी प्राइवेट संस्थाओं के पक्ष में फैसला सुनाते हुए सर्वोच्च न्यायालय की तीन सदस्यीय खण्डपीठ ने सरकारी कोटे और मैनेजमेण्ट कोटे के लिए "एक समान" फीस तय किये जाने की सिफारिश की थी जिसके बाद प्राइवेट संस्थाओं ने सरकारी कोटे के छात्रों की फीस में भारी वृद्धि की थी। बढ़ी हुई फीस न चुका पाने के कारण केरल के एक प्राइवेट इंजीनियरिंग कालेज की प्रतिभाशाली छात्रा रजनी की पढ़ाई बीच मे ही छूट गयी। रजनी ने शिक्षा ऋण के लिए कई बैंकों के दरवाजे खटखटाये, लेकिन किसी न किसी बहाने सबने उसे खाली हाथ लौटा दिया। उसकी योग्यता को देखते हुए एक अन्य संस्थान ने उसे अपने कालेज में भर्ती करने और उसकी फीस माँफ करने का आश्वासन दिया। लेकिन जिस कालेज में वह पढ़ती थी वहाँ के प्रबंधक ने बिना बढ़ी फीस चुकाये बीच सत्र में टी. सी. देने से मना कर दिया। हताश होकर रजनी ने आत्महत्या कर ली। प्रतिभाओं को कत्ल किये जाने की यह कोई अकेली घटना नहीं है। शिक्षा का व्यावसायीकरण करके हर साल लाखों की संख्या में मेधावी छात्र-छात्राओं को उच्च शिक्षा के परिसरों से बाहर धकेला जा रहा है।

विद्या के मन्दिरों में पूंजी की अधिष्ठायी देवी और शुभ-लाभ संस्कृति को पूरी तरह स्थापित कर दिया गया है। नतीजा यह कि शिक्षण संस्थाएँ "ज्ञान की दुकान" छात्र और अभिभावक "ज्ञान के ग्राहक" शिक्षक ज्ञान के उत्पादन में लगे दिहाड़ी मजदूर और शिक्षा "बिकाऊ माल" में बदल गयी है।

पूँजी के वैश्वीकरण के इस दौर में शिक्षा के मूल उद्देश्यों और बुनियादी दर्शन पर कुठाराघात किया जा रहा है। देशी-विदेशी पूँजीपति ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में हो रही नयी-नयी खोजों को मुनाफे में तब्दील करने में शिक्षा व्यवस्था की भूमिका को अच्छी तरह समझते हैं।

इसलिए वे शिक्षा व्यवास्था के सभी पक्षों में ऐसे बुनियादी बदलाव कर रहे हैं कि वह पूरी तरह पूँजीवाद समर्थक, उच्च तकनीक के अनुकूल और उपयोगितावादी हो जाय तथा वह नयी पीढ़ी को इस तरह ढाले कि वह मुनाफा पैदा करने वाला, बुद्धिविवेकहीन, आत्मकेन्द्रित और सर झुकाकर आदेश पालन करने वाला "मानव संसाधन" बन जाय। विद्यार्थियों की अन्तर्निहित क्षमता और प्रतिभा का बहुमुखी विकास करने और उन्हें सक्षम नागरिक बनाने के उद्देश्य का पूरी तरह परित्याग करके अब शिक्षा व्यवस्था को वैश्विक पूँजी के मुनाफे का साधन तैयार करने वाली मशीन और उसके हाथ की कठपुतली बनाया जा रहा है।

सत्ता के शीर्ष पर विराजमान विभिन्न पार्टियों के नेता, नौकरशाह कानूनविद, न्यायकर्ता, सलाहकार, नीतिनिर्माता, बिके हुए बुद्धिजीवी, साहित्यकार, कलाकार और मीडियाकर्मी और अन्य परजीवी तबका, शिक्षा के व्यावसायीकरण के इस जन-द्रोही, राष्ट्रद्रोही अभियान में देशी-विदेशी पूँजीपतियों का भरपूर सहयोग और समर्थन कर रहा है। इन शत्रु-सहयोगियों ने सफलता के शिखर पर पहुँचने के लिए सस्ती शिक्षा और अन्य सरकारी सुविधाओं का सीढ़ी की तरह इस्तेमाल किया और वहाँ पहुँचने के बाद सीढ़ी ऊपर खींच ली। इसके पीछे उनकी मंशा अपने विशेषाधिकारों को बरकरार रखना और पूँजी की गुलामी में जकड़ी देश की बहुसंख्यक जनता की बदहाली को चिरस्थायी बनाना है।

शिक्षा का व्यावसायीकरण करके उसे देशी-विदेशी पूँजीपतियों के मुनाफे का साधन बनाने के साथ-साथ हमारे शासक अपने इस घिनौने कुकृत्य को एक अटल, अनिवार्य और विकल्पहीन परिघटना के रूप में स्थापित कर रहे हैं। वे ऐसी गुलाम मानसिकता जनमानस में रोप रहें हैं कि 'इसके खिलाफ कोई भी कदम उठाना संभव नहीं।' जनता के मन में असहायता की ऐसी भावना भरते हुए कि 'कुछ नहीं किया जा सकता' हमारे शासक इन नीतियों को ऊपर से थोपते जा रहे हैं। दूसरी ओर नीचे के पायदान पर खड़े अधिकांश छात्र, शिक्षक और अभिभावक भी लाचार होकर इन नीतियों को चुपचाप स्वीकार करते जा रहे हैं। यही कारण है कि उन्हें जनता की ओर से किसी प्रबल चुनौती का सामना नहीं करना पड़ रहा है।

शिक्षा व्यवस्था की इस तबाही और बर्बादी को देखकर देश, समाज और शिक्षा से सरोकार रखने वाले किसी भी नागरिक का बेचैन और क्षुब्ध हो जाना लाजिमी है। शिक्षा का सम्बन्ध हमारी वर्तमान और भावी पीढ़ियों की जिन्दगी से जुड़ा हुआ है। इन हमलों का प्रत्यक्ष निशाना भी छात्र नौजवान ही हैं। इतिहास के हर दौर में, युग परिवर्तन के हर संघर्ष में छात्र, नौजवानों की अग्रिम भूमिका रही है। इसलिए आम जनता को एक नयी गुलामी में जकड़ने और उसकी सन्तानों को शिक्षा से वंचित करने के घृणित उद्देश्य से शिक्षा व्यवस्था में जो बदलाव किये जा रहे है, उनके विभिन्न पक्षों को गहराई से समझना और इसके खिलाफ निर्णायक संघर्ष की तैयारी में जुट जाना हम छात्रों-नौजवानों का ऐहिासिक दायित्व है।

उच्च शिक्षा की वर्तमान स्थिति: तथ्यों की रोशनी में

उच्चशिक्षा की जो सच्चाई हमे रोजमर्रे की जिन्दगी में दिखाई देती है, वह अपने-आप में क्षोभकारी है, लेकिन सतह पर दि खने वाली समस्याएं तो केवल लक्षण है। असली बीमारी कहीं ज्यादा भयावह है जिस पर या तो पर्दा डाला जाता है या उन्हें टुकड़े- टुकड़े में तोड़-मरोड़कर या गलत सन्दर्भों और व्याख्याओं के साथ प्रस्तुत किया जाता है। यही कारण है कि आम जनता और अधिकांश पढ़े-लिखे लोगों को भी शिक्षा व्यवस्था की वास्तविक स्थिति की जानकारी बहुत कम है। परिणामस्वरूप हम अक्सर ही सरकार और मीडिया द्वारा फैलाये जा रहे भ्रमजाल के शिकार हो जाते हैं और इन झूठी बातों पर यकीन कर लेते हैं कि सारी बुराईयों के लिए हम खुद ही दोषी है, कि सरकार के पास धन का अभाव है, कि दुनिया से अलग-थलग रह कर हम कैसे विकास कर पायेंगे कि नीतियों की दिशा सही है, दोष तो लागू करने वालों का है, इत्यादि। शासक वर्ग चाहते हैं। कि लोग वैसा ही सोचें जैसा वे चाहते हैं, ताकि वे निश्चिन्त होकर अपनी जनविरोधी-देशविरोधी नीतियों को बेरोकटोक लागू करते जायें।

कहते है कि तथ्य बड़े हठी होते है। वे आँखों में उँगली डालकर सच्चाई को मानने के लिए मजबूर कर देते हैं। अगर सही और समग्र तस्वीर सामने हो तो उसके जरिये सही नतीजे तक पहुँचना आसान होता है, लेकिन इसके अभाव में हम आँख मूंदकर शिकार करते रहेंगे या अंधेरे में हाथ पाँव मारते रहेंगे। इसलिए पहले उच्चशिक्षा जगत की ठोस सच्चाइयों पर एक नजर डालना जरूरी है।

विश्वविद्यालय अनुदान आयेग की रिपोर्ट (2002) बताती है कि हमारे देश में विश्वविद्यालय स्तर की 290 संस्थाएं 13,150 कालेज 427 लाख शिक्षक और 88 लाख उच्चशिक्षा ग्रहण करने वाले छात्र हैं। इन्हीं आकड़ों का हवाला देते हुए सरकार कहती है कि उच्चशिक्षा के क्षेत्र में हमारा देश काफी तरक्की कर चुका है। लेकिन आबादी की तुलना में उच्चशिक्षा की यह तस्वीर निराशाजनक और शर्मनाक है। यूनेस्कों की विश्व शिक्षा रिपोर्ट-2000 के अनुसार भारत में 13 से 23 वर्ष की आयु के मात्र 6.9% नौजवान उच्च शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। तीसरी दुनिया के कई गरीब देशों में यह अनुपात दुगने से भी ज्यादा था। अमरीका में 80% ब्रिटेन में 52% आस्ट्रेलिया में 79% और न्यूजीलैण्ड में 62% की तुलन में भारत का 6.9% का यह आँकड़ा भला कहाँ टिकता है? जहाँ तक विश्वविद्यालयों की संख्या का सवाल है, कोरिया मे 4.5 करोड़ की आबादी पर 120, 5 करोड़ की आबादी वाले ब्रिटेन में 170 और 60 लाख की आबादी वाले इजराइल में 100 विश्वविद्यालय हैं। भारत को कोरिया के स्तर तक पहुंचने के लिए 2300(लगभग नौ गुना) नये विश्वविद्यालय खोलने होंगे। क्या यह काम निजी पूंजीपतियों के भरोसे हो पाना संभव है जिनका मूलमंत्र मुनाफाखोरी है?

एक भ्रामक तथ्य यह है कि भारत में काफी बड़ी संख्या में वैज्ञानिक और तकनीशिन

तैयार होते हैं। सच्चाई यह है कि दुनिया के अन्य देशों की तुलना में भारत इस मामले में भी कहीं नहीं ठहरता। प्रति 1000 की आबादी में विज्ञान और तकनोलोजी में उच्च शिक्षा प्राप्त लोगों की संख्या जापान में 110, इजराइल में 76, अमरीका में 55, कोरिया में 46, ब्राजील में 26, और भारत में 3.6 है। चीन में जो भारत से दो साल बाद आजाद हुआ था, वहाँ भी उच्च शिक्षा प्राप्त लोगों का अनुपात भारत की तुलना में ढाई गुना ज्यादा है।

इन आकड़ों से यह पूरी तरह स्पष्ट है कि आजादी के बाद हमारे देश में उच्च शिक्षा का स्तर कितना घटिया है। 93% नौजवानों को उच्चशिक्षा से वंचित रखा गया, फिर भी हमारे शासकों ने बेहयाई के साथ उच्चशिक्षा की जिम्मेदारी से मुँह मोड़ लिया है और इसे मुनाफे के भूखे भेड़ियों के रहमोकरम पर छोड़ देने का फैसला कर लिया है।

1947 के बाद से ही शिक्षा पर सरकारी खर्च लगातार कम होता गया, लेकिन 1991 में नई आर्थिक नीति लागू करने के बाद खुलेआम घोषणा करके सरकार ने शिक्षा के मद में तेजी से बजट कटौती शुरू की। 1993-94 की कीमतों को आधार मानें तो उच्चशिक्षा के लिए केन्द्रीय बजट राशि 1990-91 में 645 करोड़ से घटकर 1996-97 में 559 करोड़ रह गयी। उच्च शिक्षा के मद में केन्द्र सरकार के बजट को यदि प्रति छात्र औसत बँटवारे के रूप में देखा जाय तो इसमें और भी कमी आयी है। 1993-94 की कीमतों पर 1990-91 में 7,676 रु. प्रति छात्र से घटकर 2001-02 में यह 5,873 रु. रह गया है। प्रति छात्र वास्तविक संसाधनों में कटौती के चलते उच्चशिक्षा की गुणवत्ता बुरी तरह प्रभावित हुई है। पिछले 15 वर्षों के दौरान पुस्तकालय, प्रयोगशाला, छात्रवृत्ति और शिक्षकों की संख्या में तेजी से गिरावट आयी है।

1980 तक सकल राष्ट्रीय उत्पाद का 1% उच्च शिक्षा पर खर्च किया जाता था। छात्रों और शिक्षकों की मांग थी कि इसे बढ़ाकर 10% किया जाय। लेकिन आर्थिक सुधारों के नाम पर इस अपर्याप्त बजट में भी लगातार कटौती की गयी। 1990-91 में यह राशि 0.46% थी जो 1997-98 में घटाकर 0.35% रह गयी। पंचवर्षीय योजनाओं में शिक्षा को दिये जाने वाले ध न में भी इस बीच लगातार गिरावट आयी है। चौथी पंचवर्षीय योजना में उच्चशिक्षा के लिए 1. 2% राशि रखी गयी थी जो आठवीं पंचवर्षीय योजना में मात्र 0.3% रह गयी । सरकार यह झाँसा देती है कि उच्च शिक्षा में बजट कटौती करने से जो धन बचेगा उसे प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा पर खर्च किया जायेगा। सरकारी आँकड़े बताते है कि इस बचत को कहीं और खर्च किया गया है। सरकार के लिए इससे घिनौनी और शर्मनाक बात भला और क्या हो सकती है कि वह देश की भावी पीढ़ी पर खर्च की जाने वाली राशि में दिनों-दिन कटौती करती जा रही है, जबकि जनता की छाती पर मूँग दलने वाली नौकरशाही पर वह सकल राष्ट्रीय उत्पाद का 10% खर्च करती है।

बजट में कटौती के चलते शिक्षा की गुणवत्ता में तो गिरावट आ ही रही है इसका सीधा असर गरीब तबकों के छात्रों पर पड़ा है- चाहे फीस वृद्धि के रूप में हो या उन्हें दी जाने वाली सहायता में कमी के रूप में। वैसे तो शिक्षा के कुल बजट में छात्रवृति का अनुपात पहले ही बहुत कम रहा है, लेकिन इस मद में भी सरकार ने 1990-91 से 1999-2000 के बीच लगभग

60% की कटौती की है और इस बीच इसे (1993-94 की कीमतों पर) 15.35 करोड़ रुपये से घटाकर 5.85 करोड़ रुपये कर दिया है।

विकसित देशों की सरकारें, जो उदारीकरण-निजीकरण की प्रवर्तक हैं, उच्च शिक्षा के महत्व को ध्यान में रखते हुए आज भी इसके लिए पर्याप्त मात्रा में धन मुहैया करा रही हैं। ब्रिटेन के प्रधानमंत्री द्वारा 2003 में जारी स्वेतपत्र में कहा गया है कि "यदि कोई देश दूसरे देशों की प्रगति के साथ कदम मिलाना चाहता है तो इसके सिवा और कोई चारा नहीं कि सरकार शिक्षा में निवेश करे।" एक रिपोर्ट के मुताबिक ब्रिटेन की सरकार के 1997 से 2006 के बीच शिक्षा का बजट सकल घरेलू उत्पाद के 4.5% से बढ़ाकर 5.6% करने वाली है और वहाँ शिक्षा पर सरकारी खर्च 2002-03 से 2005-06 के बीच प्रतिवर्ष 6% की दर से बढ़ाया जायेगा।

कैसी विडम्बना है कि जिस देश में 46% छात्र उच्चशिक्षा प्राप्त करते है, वहाँ की सरकार आज भी इसके प्रति कृत संकल्प है जबकि 7% से भी कम छात्रों को उच्चशिक्षा उपलब्ध कराने वाली भारत सरकार उच्च शिक्षा का व्यावसायीकरण कर रही है और इससे हाथ खींच रही है।

1995 में निजी विश्वविद्यालय कानून संसद में भले ही पास नहीं हुआ, लेकिन 2002 में छत्तीसगढ़ में निजी विश्वविद्यालय अधिनियम लागू हो गया और उसके एक साल के अन्दर ही वहाँ 112 निजी विश्वविद्यालय खुल गये। जाँच के दौरान यू. जी. सी. ने पाया कि इनमें से 77 विश्वविद्यालयों का अस्तित्व सिर्फ कागजों में था। फरवरी 2005 में सर्वोच्च न्यायालय ने इस अध्यादेश को असंवैद्यानिक घोषित किया जिसके चलते ये सभी विश्वविद्यालय बंद कर दिये गये।

1997 से पहले महाराष्ट्र में 97 प्राइवेट कालेज थे। अगले 5 वर्षो में वहाँ 56 नये प्राइवेट कालेज खुल गये। आंध्र प्रदेश में इस अवधि में कालेजों की संख्या 19 से बढ़कर 213 हो गयी। हरियाणा जैसे छोटे राज्य में, जहाँ केवल 17 जिले हैं 5 वर्षो के भीतर 35 प्राइवेट इन्जीनियरिंग कालेज खुल गये हैं। यही हाल देश के अन्य प्रान्तों में भी है। केरल की सरकार ने 44 मेडिकल कालेज 48 डेंटल कालेज और 298 इंजीनियरिंग और मैनेजमेंट कालेज खोलने के लिए अनापत्ति प्रमाण पत्र जारी किया है। इन प्राइवेट संस्थाओं के लिए सरकार सस्ते दर पर जमीन, बैंक, ऋण, बिजली-पानी और अन्य सुविधाऐं उपलब्ध कराती है, जबकि बदले में इनके मालिकान सरकारी कोटे की फ्री सीट छोड़ने या किसी भी तरह का सरकारी नियंत्रण स्वीकार करने को तैयार नहीं है। महाराष्ट्र के 130 प्राइवेट संस्थाओं में से लगभग 100 संस्थाओं के मालिक विभिन्न राजनीतिक पार्टियों के नेता हैं, जो अपनी राजनीतिक ताकत का इस्तेमाल करके अधिक से अधिक सहुलियतें हासिल करने में सक्षम हैं। शिक्षा के व्यापार में नेताओं की हिस्सेदारी तेजी से बढ़ी है।

स्ववित्तपोषी, निजी संस्थानों को मान्यता देने के मामले में किसी भी स्थापित मानदण्ड को पूरा करना जरूरी नहीं समझा जाता। मेरठ विश्वविद्यालय में सन 2002 से पहले केवल 6 सरकारी कालेजों में बीएड की पढ़ाई होती थी जबकि दो-तीन वर्षों में वहाँ 152 प्राइवेट बीएड

कालेजों को मान्यता दे दी गयी। इनमें से 77 कालेजों के खिलाफ अनियमितता बरतने और मान्यता प्राप्ति की न्यूनतम शर्तों को भी पूरा न करने के आरोप में जाँच चल रही है। इन कालेजों में न तो योग्य शिक्षक हैं न पर्याप्त सुविधायें। लेकिन फिर भी नामांकन के लिए छात्रों से 1,20,000 रूपये तक की मांग की गई क्योंकि मान्यता प्राप्त करने के लिए इन संस्थानों के मालिकों ने लाखों रुपये खर्च किये थे। केरल में भी बीएड कालेजों की मान्यता इसी आधार पर रद्द की गयी कि उन्हें सभी नियमों और शर्तों को ताक पर रखकर चलाया जा रहा था। कई निजी इंजीनियरिंग कालेजों ने ए. आई. सी. टी. ई. से मान्यता प्राप्त किये बिना ही छात्रों से भारी फीस बसूल करके पढ़ाई शुरू कर दी। दो-तीन साल चक्कर लगाने के बाद जब मान्यता नहीं मिली तो उन्होंने छात्रों के सामने हाथ खड़ा कर दिया। छात्रों के भविष्य से खिलवाड़ करने से सम्बन्धित ऐसी घटनाएं अक्सर ही सुनने मे आती है।

मुनाफे की भूख ने पूंजीपतियों की एक देश से दूसरे देश में शिक्षा का व्यापार फैलाने के लिए प्रेरित किया है। उनका आदर्श फिनिक्स यूनिवर्सिटी है जो एक व्यापारिक संस्था की तरह दुनिया भर में शिक्षा का व्यापार करती है और न्यूयार्क के शेयर बाजार में सूचीबद्व है। शिक्षा के क्षेत्र में दुनिया की एक अन्य विराट कम्पनी ग्लोबल एलायन्स फॉर ट्रान्सनेशनल एजुकेशन है जिसका मालिकाना एक व्यक्ति के हाथ में है। नीट और माइक्रोसाफ्ट कम्पनी भी कम्प्यूटर शिक्षा के क्षेत्र में दुनियाभर में अपना जाल फैलाये हुए है। हमारे देश में भी ऐसी कई विदेशी कंपनियों के साझेदारों का धंधा खूब फल-फूल रहा है। भारत में लगभग 150 विदेशी विश्वविद्यालय सक्रिय हैं जिनमें से इग्लैण्ड के 50, अमरीका के 30, आस्ट्रेलिया के 45 तथा बाकी कनाडा और अन्य यूरोपीय देशों के हैं। यू. जी. सी. जैसी संस्थाओं का इन विदेशी शिक्षण संस्थाओं पर कोई नियंत्रण नहीं है। यू. जी. सी. ने ऐसे भारतीय संस्थानों से भी आवेदन पत्र आमंत्रित किये हैं जो "भारतीय शिक्षा का निर्यात" करने में रूचि रखते हों।

वैश्वीकरण के शोर-शराबे के बीच अक्सर प्रतियोगिता मे उतरने और महाशक्ति बनने की हवाई बाते सुनने को मिलती हैं। लेकिन विदेश व्यापार में असंतुलन की जो स्थिति आर्थिक जगत में है उससे कहीं बुरी हालत शिक्षा क्षेत्र में दिखाई देती है। 2001 में लगभग 10 लाख भारतीय छात्र विदेशों में पढ़ते थे, जिनमें से 54,670 अमरीका में थे। दो वर्षों में यह संख्या बढ़कर 74,603 हो गयी। दूसरी तरफ भारत पढ़ने आने वाले विदेशी छात्रों की संख्या मात्र 7,800 थी। इनमें से अधिकाँश तीसरी दुनिया के गरीब देशों के नागरिक थे। अमरीका में पढ़ने वाले कुल छात्रों में से 12% छात्र भारतीय हैं, जबकि अमरीका के सिर्फ 0.06% छात्र भारत में पढने आते हैं।

ये सभी तथ्य और आँकड़े इस बात को चीख-चीख कर बता रहे हैं कि हमारे देश में उच्च शिक्षा गम्भीर संकट का शिकार है। शिक्षा में सुधार के नाम पर जो अंधाधुन्ध बदलाव लाये गये, वे पहले से ही बदहाल और जर्जर शिक्षा व्यवस्था को और अधिक तबाही की ओर धकेलने वाले साबित हुए हैं।

शिक्षा के बाजारीकरण के लिए नीतिगत बदलावों का सिलसिला

पिछले 20 वर्षों के दौरान उच्चशिक्षा से सम्बन्धित महत्वपूर्ण सरकारी फैसलों, विश्वबैंक और भारत सरकार की विभिन्न कमेटियों की सिफारिशों और सर्वोच्च न्यायालय के फैसलों पर एक सरसरी निगाह डालें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इनमें पहले की तरह जनता को लुभाने वाले नारों या झूठे वायदों के लिए भी अब कोई जगह नहीं। इन सब में हमारे शासक वर्गों द्वारा "उच्च शिक्षा को पूरी तरह बाजार और निजी मुनाफाखोरों के हवाले किये जाने" की मंशा का खुलेआम इजहार हुआ है। इस दिशा में किये गये कुछ खास उपाय इस प्रकार हैं-

1986–विश्व बैंक ने "विकासशील देशों में उच्च शिक्षा को वित्तीय सहायता" नाम से एक दस्तावेज जारी किया

–राजीव गाँधी सरकार द्वारा नयी शिक्षा नीति लागू की गयी जो काफी हद तक विश्व बैंक के इस दस्तावेज से मेल खाती थी।

1990–जोमतियन आईलैण्ड में विश्वबैंक और यूनेस्को द्वारा प्रायोजित 'सबके लिए शिक्षा' सम्मेलन।

1991–राव-मनमोहन सरकार ने नयी आर्थिक नीति के तहत निजीकरण, उदारीकरण और वैश्वीकरण को स्वीकृति दी।

1992–8वीं पंचवर्षीय योजना (1992-97) के दस्तावेज में उच्च शिक्षा को सरकारी सहायता देने के बजाय निजीकरण को बढ़ावा देने की घोषणा ।

–मेरठ की मोहिनी जैन बनाम कर्नाटक सरकार केस में सर्वोच्च न्ययालय का यह फैसला कि निजी शिक्षण संस्थाओं द्वारा कैपीटेशन फीस वसूलना गैर कानूनी है।

–उपरोक्त केस पर सर्वोच्च न्यायालय के 5 न्यायाधीशों द्वारा पुनर्विचार, उक्त फैसले को पल्टा जाना और निजी व्यावसायिक शिक्षण संस्थानों को 50% पेमेन्ट सीट रखने की अनुमति देकर शिक्षा के व्यावसायीकरण को वैधता प्रदान करना।

1993–उन्नीकृष्णन बनाम आँध्र प्रदेश सरकार के केस में सर्वोच्च न्यायालय का फैसला जिसमें शिक्षा के व्यावसायीकरण को उचित ठहराया गया।

–केन्द्रीय विश्वविद्यालयों के लिए गैर-सरकारी स्रोतों से धन जुटाने से सम्बन्धित यू.जी.सी. द्वारा गठित के. पुनैया कमेटी की रिपोर्ट आयी।

1995–तकनीकी शिक्षा के लिए धन जुटाने से सम्बन्धित ए. आई. सी. टी. ई. की डी. स्वामीनाथन कमेटी ने रिपोर्ट पेश की।

1997–भारत में सरकारी सब्सिडी पर वित्तमंत्रालय द्वारा विचार-विमर्श पत्र जारी किया गया जिसमें उच्च शिक्षा को 'नान-मेरिट गुड' बताते हुए इसके लिए सरकारी सहायता को अनुचित बताया गया।

1998–उच्चशिक्षा के बारे में यूनेस्को सम्मेलन में भारत सरकार के प्रतिनिधि मुरली मनोहर जोशी द्वारा शिक्षा के निजीकरण का पूर्ण समर्थन।

2000–'उच्चशिक्षा और समाज'पर यूनेस्को और विश्वबैक के टास्क फोर्स की रिपोर्ट में उच्च शिक्षा को सरकारी सहायता न देने की वकालत।

–प्रधानमंत्री टास्क फोर्स (बिड़ला अम्बानी कमेटी) द्वारा शिक्षा पर रिपोर्ट पेश की गयी जिसमें शिक्षा को निजी पूँजीपतियों के हवाले करने की सिफारिश।

2001–'ज्ञान-समाज' के बारे में विश्वबैंक की रिपोर्ट में ज्ञान-विज्ञान की नयी खोजों को मुनाफे में बदलने के काम में उच्चशिक्षा के महत्व का रेखांकन।

2002–टी. एम. ए. पई. बनाम कर्नाटक सरकार केस में सर्वोच्च न्यायालय का फैसला जिसमें प्राइवेट कालेजों में फ्री सीट हटाकर सभी सीटों को पेमेंट सीट बनाने का निर्णय तथा उन्हें मनमानी फीस तय करने और अलग प्रवेश परीक्षा आयोजित करने की अनुमति।

2003–इस्लामिक अकादमी ऑफ एजुकेशन और कर्नाटक सरकार के बीच उपरोक्त केस की व्याख्या को लेकर विवाद पर सुप्रीम कोर्ट के 5 न्यायाधीशों का 'फ्री सीट' व्यवस्था को जारी रखने लेकिन उन सीटों पर फीस बढ़ाने का फैसला।

2005–निजी शिक्षण संस्थाओं के प्रबंधको द्वारा दायर ढेर सारी याचिकाओं का निपटारा करते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने उन्हें सभी प्रकार के सरकारी नियन्त्रण से मुक्त करने का फैसला सुनाया।

ये सभी कार्रवाइयाँ उच्च शिक्षा को उत्तरोत्तर तबाही की ओर धकेले जाने की पूरी दास्तान का बयान करती हैं।

1986 में राजीव गाँधी के शासनकाल में नयी शिक्षा नीति लागू की गयी। आजादी के बाद देश के नये शासकों द्वारा निर्धारित शिक्षा व्यवस्था के उद्देश्य और ढाँचे में यह एक भारी बदलाव था। शिक्षा मंत्रालय का नाम बदलकर 'मानव संसाधन विकास मंत्रालय' कर दिया गया। इस नयी शिक्षा नीति में उच्च शिक्षा के लिए संसाधनों की कमी का रोना रोते हुए "चन्दा जुटाने", "फीस बढ़ाने", "शिक्षा की उपभोगकर्ता एजेन्सियों पर अधिभार लगाने", "मितव्ययिता अपनाने" और अन्ततः "सरकार पर बोझ कम करने" की बात कही गयी। यह महज संयोग नहीं कि 1986 में ही विश्व बैंक ने "विकासशील देशों में उच्च शिक्षा को वित्तीय सहायता" नाम से एक दस्तावेज जारी किया था जिसमें छात्रों से खर्च वसूलने, छात्रों के लिए शिक्षा ऋण शुरू करने तथा विशुद्ध निजी संस्थानों द्वारा अपना खर्च और मुनाफा निकालने के लिए यथोचित फीस तय करने की वकालत की गयी थी। 1986 में इन्हीं दो दस्तावेजों के आधार पर शिक्षा नीति का जो विषैला पौधा रोपा गया था वह 1990 के दशक में बड़ा होकर जहरीले फल देने लगा।

1990 में विश्वबैंक, यूनेस्को, यूनीसेफ सहित कई अन्तरराष्ट्रीय संस्थाओं की छत्रछाया में जोमतियन शहर में सबके लिए शिक्षा सम्मेलन का आयोजन किया गया था जिसमें दुनिया के लगभग सभी देशों की सरकारें शामिल हुई थीं। प्राथमिक शिक्षा के महत्व को रेखांकित करते हुए हर देश ने इसके प्रति वचनबद्धता दोहरायी, लेकिन साथ ही इस बात को भी जोर-शोर से उछाला गया कि सबके लिए प्राथमिक शिक्षा की गारंटी तभी संभव होगी जब सरकार उच्चशिक्षा की ओर से अपना ध्यान पूरी तरह हटा ले। नतीजा यह हुआ कि जोमतियन सम्मेलन के बाद से ही सरकार और साम्राज्यवादी वित्तीय संस्थाओं ने अपनी शिक्षा नीतियों और योजनाओं में उच्च शिक्षा को नजरअंदाज करते हुए इस क्षेत्र में सरकार की भागेदारी घटाने की सिफारिस की। सरकार के आर्थिक सर्वेक्षणों, बजट भाषणों और नीति दस्तावेजों में हर जगह उच्च शिक्षा की अवहेलना होने लगी।

1991 में नयी आर्थिक नीति के आधार पर तैयार की गयी 8वीं पंचवर्षीय योजना (1992-97) के दस्तावेज में साफ तौर पर यह अनुशंसा की गयी कि अब नये परम्परागत कॉलेजों-विश्वविद्यालयों की स्थापना करना या उन्हें बढ़ावा देना अनुचित है। इसकी जगह निजी पूँजीपतियों और संसथाओं को उच्च शिक्षा के क्षेत्र में पूँजी लगाने के लिए प्रोत्साहित करने की सिफारिश की गयी।

शिक्षण संस्थाओं के लिए आर्थिक स्रोत जुटाने के कौन-कौन से तरीके अपनाये जाएँ इसके लिए सरकार ने केन्द्रीय विश्वविद्यालयों से सम्बन्धित के. पुनैया कमेटी और तकनीकी शिक्षा संस्थानों के लिए डी. स्वामीनाथन कमेटी का गठन किया। 1993-94 में प्रस्तुत अपनी रिपोर्टों में इन दोनों ही कमेटियों ने उच्च शिक्षा को सरकारी धन मुहैया किये जाने के महत्व पर बल दिया जिसे सरकार ने नजरअंदाज कर दिया। रिपोर्ट के जिन सुझावों को सरकार ने हाथो-हाथ लिया और लागू किया उनमे प्रमुख थे–

1. फीस में बढ़ोत्तरी
2. कन्सल्टेन्सी और अन्य सेवाएँ देकर पूँजीपतियों से धन जुटाना।
3. स्ववित्तपोषी पाठ्यक्रमों की शुरूआत।
4. बैंक द्वारा छात्रों को शिक्षा ऋण देने की व्यवस्था।

यह महज संयोग नहीं कि ये सभी सुझाव राव-मनमोहन सरकार की नयी आर्थिक नीति, अन्तरराष्ट्रीय मुद्राकोष के ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम, जोमतियन सम्मेलन के फैसले और विश्वबैंक के 1994 के नीति पत्र में की गयी सिफारिशों से पूरी तरह मेल खाते थे।

हमारे देश में यह परम्परा सी बन गयी है कि सरकार को जब जनता की आँखों में धूल झोंकनी होती है तो वह कोई आयोग या कमेटी बैठा देती है। देशी-विदेशी पूँजीपतियों के हित में आर्थिक सुधारों की शुरूआत करने और शिक्षा के व्यावसायीकरण का फैसला लेने के बाद सरकार ने उच्च शिक्षा में सुधार के लिए भी भाँति-भाँति की कमेटियों का गठन किया। इनमें से कई कमेटियों की रिपोर्टो की भाषा और मुहावरे भी विश्वबैंक के रिपोर्टों और शर्तनामों में हूबहू मिलते है।

1994 में 'भारत में शिक्षा का विकास' नाम से प्रकाशित एक दस्तावेज में सरकार ने स्पष्ट घोषणा की "कि देश में उच्च शिक्षा प्रणाली आज राष्ट्रीय जरूरतों की पूर्ति के लिए पर्याप्त रूप से विकसित है। उच्चशिक्षा की अनुचित माँग करना आर्थिक रूप से व्यवहार्य नहीं है।" उच्च शिक्षा की वर्तमान स्थिति से सम्बन्धित जिन सरकारी आँकड़ों का पहले ही विस्तार से उल्लेख किया गया है, उसे देखते हुए सरकार की इस बेहयाई पूर्ण घोषणा को समझना कोई मुश्किल नहीं। तत्कालीन प्रधानमंत्री भी ऐसी ही निर्लज्ज स्पष्ट वादिता के साथ जनता को यह बताया था कि सरकार कोई धर्मशाला नहीं है।

1995 में सरकार ने निजी विश्वविद्यालय खोलने से सम्बन्धित एक कानून तैयार किया जो राज्य सभा में तो पारित हो गया, लेकिन लोकसभा में आज तक लम्बित है। कारण यह नहीं कि सरकार और विपक्षी पार्टियाँ इसमें बाधक हैं बल्कि इसलिए कि निजी पूँजीपति इस कानून के कई प्रावधानों से सहमत नहीं हैं। जैसे- निजी विश्वविद्यालय खोलने के लिए 10 करोड़ रुपये की स्थायी निधि बनाना, 30% छात्रों की फीस माफ करना, सरकार द्वारा नियंत्रण और नियमन किया जाना, इत्यादि।

1997 में वित्त मंत्रालय द्वारा जारी 'भारत में सरकारी सब्सिडी' नामक दस्तावेज में उच्च और माध्यमिक शिक्षा को 'नॉन-मेरिट गुड' की श्रेणी में डालते हुए इसके लिए सरकारी सहायता में कटौती का सुझाव दिया गया। तर्क यह दिया गया कि माध्यमिक और उच्च शिक्षा से समाज के बहुत थोड़े लोगों को ही लाभ मिलता है जबकि प्राथमिक शिक्षा का लाभ अधिक लोगों तक पहुँचता है। यह तर्क विश्वबैंक प्रायोजित जोमतियन सम्मेलन के सुझावों की आँख मूँदकर की गयी नकल है जिसका उद्देश्य तीसरी दुनिया की सरकारों को उच्च शिक्षा को बढ़ावा देने से रोकना था।

1998 में विश्वबैंक और यूनेस्को द्वारा पेरिस में आयोजित उच्च शिक्षा पर विश्व-सम्मेलन में मुरली मनोहर जोशी ने कहा था कि "उच्च शिक्षा संस्थानों को अपने आर्थिक स्रोत बढ़ाने के लिए फीस वृद्धि, चन्दा जुटाने और कंसलटेंसी या किसी अन्य उपाय द्वारा कोष जुटाने का प्रयास करना चाहिए।"

शिक्षा के व्यावसायीकरण की अब तक की नीतियों को एक साथ समेंटते हुए 2000 में प्रधानमंत्री टास्क फोर्स (बिड़ला-अम्बानी कमेटी) ने अपनी रिपोर्ट पेश की जिसमें शिक्षा को निजी क्षेत्र के हवाले करने की सिफारिश की गयी थी।

बिड़ला-अम्बानी रिपोर्ट: शासक वर्गों के नापाक इरादों का खुला इजहार

2002 में प्रधानमंत्री द्वारा गठित बिड़ला-अम्बानी टास्क फोर्स ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की, जिसका शीर्षक था "शिक्षा में पूँजी निवेश के लिए नीतिगत फ्रेमवर्क"। इस रिपोर्ट की अन्तर्वस्तु 1990 के बाद देशी-विदेशी संस्थाओं द्वारा प्रस्तुत दस्तावेजों से पूरी तरह मेल खाती है। लेकिन एक फर्क है। पहले, शिक्षा के व्यावसायीकरण से सम्बन्धित सुझावों को अकादमिक, तकनीकी या लच्छेदार भाषा में पेश किया गया था, जबकि इस रिपोर्ट में ऐसी कोई पर्देदारी नहीं है। इन दोनो पूँजीपतियों ने बड़े ही साफ-साफ और दो टूक शब्दों में उच्च शिक्षा को पूरी तरह बाजार के हवाले करने और मुनाफे का साधन बनाने की माँग की है। 1947 में देश के शासक वर्गों ने एक सार्वजनिक सम्पत्ति के रूप में शिक्षा व्यवस्था की आधार-शिला रखी थी। लेकिन आज बदली हुई परिस्थितियों में अपने वर्गीय स्वार्थों के अनुरूप बिड़ला और अम्बानी ने उस आधार-शिला की आखिरी ईंट तक उखाड़ फेंकने और शिक्षा को निजी क्षेत्र के सुपुर्द करने की सिफारिश की है। इस मायने में यह रिपोर्ट सभी पूर्ववर्ती रिपोर्टों के सुझावों, सलाहों और निर्देशों को एक साथ प्रस्तुत करती है और शिक्षा के निजीकरण के ठोस तरीके भी सुझाती है।

अम्बानी और बिड़ला की निगाह में शिक्षा क्षेत्र एक लाभदायक बाजार है जिसपर निजी पूँजीपतियों का पूरा नियन्त्रण होना चाहिए। शिक्षा का उद्देश्य "हर नयी परिस्थिति में ढल जाने योग्य, प्रतिस्पर्द्धी मजदूरों को तैयार करना होना चाहिए जो नये कौशल को सीखने और नये तरीके ईजाद करने में निपुण हों"। इसके लिए वे जरूरी समझते हैं कि हम अपनी पहले से चली आ रही इस "मानसिकता में बुनियादी बदलाव लायें" जिसके चलते हम "शिक्षा को सामाजिक विकास का अंग मानते रहे हैं।" वे इस बात पर भी नाराजगी जताते है"। कि "भारत में शिक्षा के क्षेत्र पर सम्भवत: अन्य सभी क्षेत्रों से ज्यादा सरकारी नियन्त्रण है। हर चीज कायदे-कानून से संचालित होती है, चाहे जगह का चुनाव हो या छात्रों की संख्या, पाठ्यक्रम की अन्तर्वस्तु हो या फीस का ढाँचा, नियुक्तियाँ हों या शिक्षकों को मिलने वाले मुआवजे। वे शिक्षा के इस "अत्यधिक नियन्त्रण" के खिलाफ हैं, क्योंकि यह "निजी पूँजी लगाने वालों के मार्ग में बाधा उत्पन्न" करेगा। वे शिक्षण-संस्थानों के "संचालन की स्वतंत्रता और नये-नये बदलाव लाने के मामले में लचीलापन" चाहते हैं।

रिपोर्ट में यह सिफारिश की गयी है कि "सरकार को चाहिए कि वह निजी क्षेत्र को शिक्षा में निवेश करने के लिए प्रोत्साहित करे और वह ऐसे जोखिमों की जिम्मेदारी खुद ले, जिनके कारण निजी वित्तीय संस्थाएँ उच्च शिक्षा के नाम पर कर्ज नहीं देना चाहती है।" जाहिर है कि बिड़ला और अम्बानी निजी पूँजीपतियों के लिए पूरी आजादी चाहते हैं जिसमें जब चाहे नौकरी पर रखने और जब चाहे निकाल बाहर करने की आजादी भी शामिल है। दूसरी ओर,

वे ऐसे किसी भी कानून के खिलाफ हैं जो छात्रों, शिक्षकों कर्मचारियों और आम जनता के हितों की सुरक्षा करता हो। छात्रों, शिक्षकों व कर्मचारियों के जनवादी अधिकारों पर कुठाराघात करते हुए वे "विश्वविद्यालयों और शिक्षा संस्थाओं के परिसरों में चलने वाली हर प्रकार की राजनीतिक गतिविधि पर प्रतिबन्ध लगाने" की सिफारिश करते है।

"भारत में विश्वविद्यालय स्तर की शिक्षा का बड़े पैमाने पर निजीकरण" करने की सिफारिश करते हुए रिपोर्ट में कहा गया है कि इस मामले में "सरकार की भूमिका केवल सुविधा प्रदान करने वाले सहायक के रूप में होनी चाहिए।" और उसकी " प्राथमिक शिक्षा के मामले में अधिकतम और उच्चशिक्षा के मामले में न्यूनतम भूमिका होनी चाहिए।" रिपोर्ट में यह सिफारिश भी की गयी है कि "विज्ञान, तकनोलाजी, मैनेजमेंट, अर्थशास्त्र, वित्तीय प्रबंधन और व्यापार में काम आने वाले अन्य महत्वपूर्ण क्षेत्रों में नये विश्वविद्यालयों की स्थापना के लिए सरकार निजी विश्वविद्यालय कानून बनाये। साथ ही इस तरह के विश्वविद्यालयों की स्थापना के लिए बड़े पूँजीपति घरानों (जैसे खुद अम्बानी और बिड़ना!) को प्रोत्साहित करने का सुझाव भी दिया गया है।

देशी पूँजीपतियों के लिए उच्च शिक्षा को व्यापार और मुनाफे का धंधा बनाने के साथ-साथ "शिक्षा क्षेत्र में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश" की भी इस रिपोर्ट में वकालत की गयी है और यह सुझाव दिया गया है कि "सस्ती दरों पर उत्तम कोटि की शिक्षा के एक उचित स्थान के रूप में प्रचारित करते हुए भारत को बाजार में उतारा जाय।"

"जो उपभोग करे वही खर्चा उठाए" के सिद्धान्त को उच्च शिक्षा पर सख्ती से लागू करने की सिफारिश करते हुए रिपोर्ट में यह कहा गया है कि "उच्च शिक्षा में पूरे खर्च की वसूली की ओर क्रमशः बढ़ा जाय और स्ववित्तपोषी निजी क्षेत्र को आगे आने के लिए प्रोत्साहित किया जाय।"

जिन पाठ्यक्रमों से भरपूर मुनाफा कमाने की सम्भावना है, उन्हें निजी क्षेत्र को सौंपने की सिफारिश की गयी है। जबकि "प्राच्य भाषाओं, पुरातत्व, जीवाश्म विज्ञान, धर्म और दर्शन" जैसे विषयों को बाजार और मुनाफे के लिए बेकार बताते हुए इन्हें सरकार के मत्थे मढ़ दिया गया है और साफ तौर पर यह कहा गया है कि "सरकार उन विषयों में सक्रिय भूमिका निभाये और उनकी सहायता करे जिनके विद्वानों का बाजार पर कोई प्रभाव नहीं है।" वे शिक्षा के उद्देश्य को ज्ञान-विज्ञान के प्रसार की जगह अपने मुनाफे की मशीन का कल-पुर्जा तैयार करने तक सीमित कर देना चाहते हैं। सूचना प्रौद्योगिकी और ज्ञान आधारित सेवा-क्षेत्र के विकास को ध्यान में रखते हुए उनकी सिफारिश है कि "शिक्षा व्यवस्था पुराने तरह के औद्योगिक मजदूर पैदा न करे बल्कि ज्ञान आधारित मजदूर तैयार करे।" शिक्षा के जरिए विद्यार्थियों को देश का स्वतंत्र और अधिकार सम्पन्न नागरिक बनाने के बजाय वे उन्हें गैर-राजनीतिक, आज्ञाकारी और अनुशासित मजदूर और कर्मचारी के रूप में तैयार करने के हिमायती हैं।

यह सुझाव दिया गया है कि "जिस तरह वित्तीय क्षेत्र में स्टैण्डर्ड एण्ड पुअर क्रिसिल जैसी संस्थाएं यह तय करती हैं कि बाजार में किस कम्पनी का क्या मोल है, उसी तरह की स्वतंत्र संस्थाएं भारत की सभी शिक्षण संस्थाओं-स्कूलों, कॉलेजों और विश्वविद्यालयों का पक्के

तौर पर दर्जा तय करें।" और इसी मूल्यांकन के आधार पर संस्थाओं को वित्तीय सहायता देने या न देने का निर्णय हो। "निर्धारित मानदण्ड से कम श्रेणी वाली संस्थाओं को बन्द कर दिया जाय . . . साथ ही विभिन्न श्रेणी की संस्थाओं में फीस का ढाँचा भी भिन्न-भिन्न हो।"

निजी विश्वविद्यालय कानून की तरह बिड़ला-अम्बानी रिपोर्ट को भी सरकार ने औपचारिक रूप से स्वीकार नहीं किया है, लेकिन इस रिपोर्ट के सभी सुझावों को मुस्तैदी से लागू किया जा रहा है।

उच्च शिक्षा पर मुनाफाखोरी का कसता शिकंजा

शिक्षा के व्यावसायीकरण की नीतियों का पहला प्रभाव यह हुआ कि सरकारी कॉलेजों-विश्वविद्यालयों ने सामान्य स्नातक और स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों में भारी फीस वृद्धि करना शुरू किया। कई संस्थाएँ इस फीस वृद्धि के जरिए अपने 50% तक खर्च जुटाने लगीं जबकि विकसित पूँजीवादी देशों में भी फीस के द्वारा 15-20% से अधिक खर्च जुटाना मुश्किल होता है। नतीजा यह कि जिन पाठ्यक्रमों में पहले से ही कम संख्या में नामांकन होता था, उनमें छात्रों की संख्या और भी कम होती चली गयी। दिल्ली विश्वविद्यालय में जहाँ एक तरफ कामर्स के नामांकन के लिए मारामारी होती है, वहीं भाषा, साहित्य, मानविकी और विशुद्ध विज्ञान के पाठ्यक्रमों में निर्धारित सीटें भी नहीं भर पातीं।

दूसरे, विश्वविद्यालयों में स्ववित्तपोषित कार्यक्रम करने की होड़ लग गयी क्योंकि सरकारी अनुदान के रूप में उन्हें जो तुच्छ राशि दी जाती थी, उसे समाप्त करके उन्हें छात्रों से मनमानी फीस वसूली कर खर्चा निकालने या धीमी मौत मरने के लिए छोड़ दिया गया है। इन नए पाठ्यक्रमों का एकमात्र मकसद अतिरिक्त धन जुटाना है। सुनहरे भविष्य का झाँसा देने वाले एम. बी. ए., एम. सी. ए., पत्रकारिता, बी. एड., माइक्रोबायलॉजी ओर जेनेटिक इंजीनियरिंग की तो बात ही क्या, स्ववित्तपोषी पाठ्यक्रम के नाम पर सोशल वर्क, एन्थ्रोपोलॉजी और लॉ जैसे विषयों को भी काफी मँहगा कर दिया गया जिनकी बाजार में कोई पूछ नहीं। विश्वविद्यालय प्रशासन का ध्यान अकादमिक गतिविधियों और शिक्षा का स्तर सुधारने के बजाय अधिक से अधिक धन जुटाने और बाजार के उतार-चढ़ाव पर केन्द्रित हो गया।

तीसरे यू. जी. सी. और ए. आई. सी. टी. ई. के सहयोग से कई विश्वविद्यालयों ने पूँजीपतियों के साथ घनिष्ट सम्बन्ध बनाने और उनसे धन प्राप्त करने के लिए विश्वविद्यालय उद्योग सेल की स्थापना की। इसका उद्देश्य समाज के लिए नहीं, बल्कि बाजार के लिए प्रासंगिक विषयों पर शिक्षा और शोध को बढ़ावा देना और इसके लिए निजी पूँजीपतियों से व्यापारिक समझौता करना था। कई अन्तरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त संस्थाओं ने निजी पूंजीपतियों के लिए कई कंसल्टेन्सी, ठेके पर काम या अन्य सेवाएं प्रदान करके धन जुटाना शुरू किया, तो कुछ ने अपनी प्रयोगशाला या विभाग ही बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को बेच दिये।

चौथे, बढ़ी हुई फीस चुकाने के लिए बैंकों ने छात्रों के लिए शिक्षा ऋण शुरू किये। मतलब यह कि भावी पीढ़ी को शिक्षा देने की जिम्मेदारी से सरकार ने खुद को मुक्त कर लिया। शिक्षा ऋण की शुरूआत करके उसने यह बोझ परिवार पर और परिवार में भी खुद छात्र पर डाल दिया जो अपनी पढ़ाई का खर्च भविष्य में कई वर्षों बाद तक चुकाता रहेगा। इस तरह ज्ञान अब सार्वजनिक सम्पति न होकर एक निहायत व्यक्तिगत उपभोक्ता वस्तु हो गया। कर्ज लेकर पढ़ाई करने वाला छात्र चाह कर भी देश समाज के बारे में नहीं सोच सकता क्योंकि उसकी सबसे

पहली चिन्ता कर्ज चुकाने की होगी। यह तो नीति निर्माताओं की क्रूरता और वैचारिक दीवालियेपन से जुड़ा एक सैद्धान्तिक पहलू है, शिक्षा ऋण का व्यावहारिक पहलू तो और भी घातक और जघन्य है चूंकि कर्ज देने से पहले बैंक अपने ग्राहक की आर्थिक-सामाजिक हैसियत देखता है इसलिए व्यावसायिक पाठ्यक्रमों के लिए लाखों रुपये का ऋण स्वीकृत करना गरीब परिवारों के लिए बहुत ही दुष्कर और जलालत भरा है। केरल की छात्रा रजनी की आत्महत्या के पीछे यही प्रमुख कारण था।

यहाँ इस बात को अच्छी तरह रेखांकित करना जरूरी है कि सरकारी विश्वविद्यालयों द्वारा स्ववित्तपोषित पाठ्यक्रम की शुरूआत करना देश में उच्च शिक्षा के व्यावसायीकरण की दिशा में एक प्रमुख कदम था। निजी शिक्षण संस्थाएँ तो पहले भी थी जो मुनाफे के तर्क से ही शिक्षा को संचालित करती थी। लेकिन उस दौरान सरकारी संस्थाएं एक आदर्श के रूप में निजी क्षेत्र के लिए स्वाभाविक मर्यादा और सीमा देखा तय करती थी, चाहे वह शिक्षा का स्तर हो, नामांकन के लिए पात्रता का मानदण्ड हो या फीस का ढाँचा। इंडियन इंस्टीटयूट ऑफ टेक्नोलॉजी और बिड़ला इंस्टीटयूट ऑफ टेक्नोलॉजी इसके स्पष्ट उदाहरण है। 80 के दशक तक देश में 57% उच्च शिक्षा संस्थान निजी प्रबंधन के अधीन थे लेकिन उन सबका संचालन उन्हीं नियमों के तहत होता था जो सरकारी संस्थाओं के लिए बनाये गये थे। साथ ही मेडिकल ओर इंजीनियरिंग कालेजों को छोड़कर शेष पाठ्यक्रमों की फीस में भी कोई विशेष अन्तर नहीं था। कैपिटेशन फीस या डोनेशन का लेन-देन भी छुप-छुपाकर होता था, जिसमें लेने वाला भी शर्माता था और देने वाला भी झेंपता था। लेकिन स्ववित्तपोषी पाठ्यक्रमों के नाम पर जब सरकारी संस्थाओं ने खुद ही शिक्षा की दुकानें खोलनी शुरू कर दी तो निजी क्षेत्र को मुनाफा खोरी के लिए वैधानिक तर्क और नैतिक आधार मिल गया।

हमारे देश में गैर-सरकारी संस्थाओं और पूँजीपतियों द्वारा शिक्षा क्षेत्र में पूँजी निवेश भी कोई पहली बार नहीं हो रहा है। आजादी से पहले डी ए वी संस्थाएं, काशी हिन्दु विश्वविद्यालय, अलीगढ़ मुस्लिम, जामिया मिलिया विश्वविद्यालय जैसी असंख्य संस्थाओं की स्थापना इसी तरह हुई थी। आजादी के बाद भी दूर देहात के इलाकों में असंख्य प्राइमरी, माध्यमिक विद्यालयों से लेकर महाविद्यालयों तक की स्थापना करने में स्थानीय सदाशयी लोगों और संस्थाओं की महत्वपूर्ण भूमिका थी। लेकिन उस दौर में शिक्षा को व्यवसाय बनाने की कोई कल्पना भी नहीं करता था। इतिहास के उस दौर में देश और समाज की उन्नति और जनसेवा की भावना से प्रेरित होकर ही ऐसी संस्थाओं की स्थापना की गयी थी। लेकिन देश-दुनिया की बदली हुई परिस्थितियों में जब पानी जैसी प्रकृति प्रदत्त वस्तु को भी मुनाफे का साधन बनाया जा रहा है, तब शिक्षा में पूँजीनिवेश का तात्पर्य वही नहीं है जो पहले के दौर में था। हर चीज को मुनाफे का जरिया बनाने वाले पूँजीपति जब उच्च शिक्षा के व्यापार में उतरेंगे तो क्या वे मुनाफाखोरी से बाज आएंगे और देश समाज के हित में काम करेंगे? बिड़ला-अम्बानी रिपोर्ट ने इस बात का स्पष्ट उत्तर दे दिया है- बिल्कुल नहीं!

इस बात को केरल के उदाहरण से साफ तौर पर समझा जा सकता है जहाँ प्राइवेट

संस्थानों के मालिकों केरल सरकार, केरल उच्चन्यायालय और सर्वोच्चन्यायालय के बीच पिछले 3 वर्षों में एक तीखा संघर्ष चला, जो अन्ततः सर्वोच्च न्यायालय के ताजा फैसले के बाद ही जाकर थमा।

केरल सरकार ने 2002-03 में लगभग 400 प्राइवेट संस्थानों को मेडिकल, इंजीनियरिंग और मैनेजमेंट कॉलेज खोलने की अनुमति दी। निजीकरण के खिलाफ आन्दोलन कर रहे छात्रों को उसने आश्वासन दिया था कि नये प्राइवेट कॉलेजों की 50% 'फ्री सीटों' पर सरकारी कॉलेजों के बराबर फीस रखी जाएगी। 2003 के केरल के प्राइवेट कॉलेजों में फ्री सीटों पर प्रवेश पाने वाले छात्रों को सरकारी कॉलेजों के बराबर यानि मेडीकल कॉलेजों के लिए 11,500 रुपये और इंजीनियरिंग कालेजों के लिए 6,600 रु सालाना फीस जमा करनी पड़ती थी।

2003 में इस्लामिक एकेडमी ऑफ एजुकेशन बनाम केरल सरकार के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने दोनों तरह की सीटों पर एक समान फीस रखने का फैसला दिया। फीस ढाँचा तय करने के लिए के टी थामस कमेटी का गठन हुआ जिसने मेडीकल कॉलेज के लिए 1,13,000 रुपये और इंजीनियरिंग कालेज के लिए 38,000 सालाना फीस तय की।

के. टी. थामस कमेटी द्वारा प्रस्तावित फीस को सरकारी कालेजों से बहुत ज्यादा मानते हुए सरकार ने इसके खिलाफ 'केरल स्ववित्तपोषी व्यावसायिक कॉलेज (कैपीटेशन फीस निरोध क और प्रवेश प्रक्रिया एवं फीस निर्धारण) कानून, 2004' विधान सभा में परित किया। दूसरी ओर प्राइवेट कॉलेजों ने इस कानून को चुनौती देते हुए सर्वोच्च न्यायालय में यचिका दायर की जिसने जुलाई 2004 में कमेटी द्वारा प्रस्तावित सरकारी और मैनेजमेंट कोटे की सीटों के लिए एक समान फीस की व्यवस्था को लागू करने का फैसला दिया । इसके चलते सरकारी कॉलेजों की तुलना में निजी मेडीकल कॉलेजों में 10 गुना और इंजीरियरिंग कॉलेजों में 6 गुना फीस बढ़ गयी। मजबूरन बहुत से प्रतिभाशाली छात्रों को बीच में ही पढ़ाई छोड़ देनी पड़ी।

2005 में सर्वोच्च न्यायालय का निर्णायक फैसला आया कि प्राइवेट कॉलेजों पर से सभी प्रकार के सरकारी नियन्त्रण खत्म कर दिये जायें। मतलब यह कि निजी कॉलेजों में सरकार को फ्री सीट, आरक्षण या फीस ढाँचा तय करने का कोई अधिकार नहीं रहेगा। प्राइवेट कॉलेजों ने इंजीनियरिंग और मेडिकल के लिए अनुमानतः 3 से 7 लाख तक सालाना फीस प्रस्तावित की थी। जाहिर है कि शिक्षा के व्यापारियों के पक्ष में फैसला देकर सर्वोच्च न्यायलय ने उच्च शिक्षा को पैसे वालों के लिए आरक्षित कर दिया।

कुकुरमुत्ते की तरह उग आये व्यावसायिक पाठ्यक्रम आज ज्ञान-प्रसार की जगह अभिभावकों को लूटने और बेहिसाब मुनाफा कमाने के साधन बन गये हैं। होटल मैनेजमेण्ट, टूरिज्म, हॉस्पीटलिटी, फैशन डिजाइनिंग, मॉडलिंग, ब्यूटीकेयर, एक्टिंग, कम्प्यूटर, इलेक्ट्रानिक मीडिया, पैरा मेडीकल के ढेरों नये-नये कोर्स खुल रहें हैं, जो आम घरों से आने वाले छात्रों की पहुँच से बाहर हैं। चूँकि उद्योग और कृषि क्षेत्र में रोजगार के अवसर नाम मात्र के रह गये हैं इसलिए रोजगार के नये क्षेत्रों की ओर लोगों का झुकाव बढ़ा है। इस स्थिति का लाभ उठाते हुए शिक्षा के व्यापारी नये-नये पाठयक्रमों को महंगे दामों पर बेच कर मुनाफा कमा रहे हैं। पढ़ाई

के बाद छात्रों को रोजगार मिलेगा या नहीं इससे उन्हें मतलब नहीं। उनका एकमात्र उद्देश्य है- शिक्षा से मुनाफा कमाना!

केन्द्र सरकार ने दिल्ली में गुरू गोविन्द सिंह इन्द्रप्रस्थ विश्वविद्यालय सिर्फ इसलिए खोला है कि वह स्ववित्तपोषी कालेजों को सम्बद्धता प्रदान करे। साथ ही कई निजी मैनेजमेण्ट और सूचना प्रौद्योगिकी संस्थानों को लगभग विश्वविद्यालय की तरह संचालन की अनुमति दी गयी है, जिन्हें अपनी खुद की डिग्री और डिप्लोमा सर्टिफिकेट जारी करने का अधिकार है। हाल ही में ऐसे कई 'डीम्ड यूनिर्वसिटी' के बारे में यू जी सी ने स्वीकार किया है कि वे किसी भी मानक को पूरा करने के लिए राजी नहीं हैं।

संविधान और संसद द्वारा स्थापित संस्थाएँ भी कल्याणकारी राज्य की भाषा भूलकर अब बाजारवाद की धुन पर नाच रही हैं। आजादी के बाद उच्चशिक्षा की विभिन्न शाखाओं के नियंत्रण, नियमन और आर्थिक सहायता के लिए सरकार ने विश्व विद्यालय अनुदान आयेग(यू. जी. सी.), अखिल भारतीय तकनीकी शिक्षा परिषद(ए. आई. सी. टी. ई.), मेडीकल काउन्सिल ऑफ इंडिया जैसी कई संस्थाओं का गठन किया था, आज के दौर में इनकी भूमिका व्यावसायीकरण को बढ़ावा देने तक ही सीमित रह गयी है। पुराने रूपों में इनकी प्रासंगिकता भी प्रश्न चिह्न लग गये हैं।

28 दिसम्बर 2002 को यू जी सी की स्वर्ण जयन्ती के मौके पर तत्कालीन प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी ने उच्च शिक्षा के व्यावसायीकरण की सिफारिश करते हुए कहा था कि विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के भविष्य का रास्ता पहले से भिन्न है तो इसे एक नया नाम क्यों न दिया जाय जो इसके आदर्श और लक्ष्य को बेहतर ढंग से व्यक्त करें यानि-'विश्वविद्यालय शिक्षा विकास आयोग' या 'विश्वविद्यालय प्रबंधन आयोग'। गौर करने वाली बात यह है कि 'अनुदान' शब्द को त्याग कर उसकी जगह 'शिक्षा विकास' या 'प्रबंधन' शब्द रखने की जरूरत क्यों आयी? इसलिए कि सरकार को उच्च शिक्षा के अनुदान को धीरे-धीरे कम करते हुए आखिरकार उसे पूरी तरह समाप्त करना है। साथ ही अब स्ववित्तपोषित या निजी संस्थानों ने भी सरकारी संस्थानों की जगह लेनी शुरू कर दी है। ऐसे में यू. जी. सी. की भूमिका प्रायः समाप्तप्राय है। लेकिन जिस तरह निजी विश्वविद्यालय कानून पारित हुए बिना ही उच्च शिक्षा का निजीकरण जारी है, उसी तरह यू. जी. सी. के नाम या नियमों में परिवर्तन लाये बिना भी वह शिक्षा के बाजारीकरण में अपनी नयी भूमिका का बखूबी निर्वाह कर रही है। अभी-अभी जुलाई 2005 में सेवा क्षेत्र और साफ्टवेयर की कम्पनियों के संगठन 'नासकॉम' ने ए आई सी टी ई और यू जी सी के साथ गठजोड़ किया है। इसका उद्देश्य साफ्टवेयर उद्योग की जरूरतों के अनुकूल 'मानव संसाधन' विकसित करना, भविष्य में रोजगार की संभावनाओं का अनुमान लगाना, शिक्षण-संस्थाओं के साथ जालमेल करके इसके लिए नए कोर्स विकसित करना और प्रशिक्षकों को नयी तकनीकी जानकारी देना है। जाहिर है कि जिस काम के लिए उन पूँजीपतियों को खुद प्रशिक्षण संस्थान खोलना पड़ता उसे वे सरकारी एजेन्सियों के जरिए सस्ती दर पर करवाना चाहते हैं। 10-12 वर्षों से यूजीसी द्वारा उद्योग और विश्वविद्यालय के बीच तालमेल के लिए कई विश्वविद्यालयों में 'यूनीवर्सिटी-इंडस्ट्री सेल गठित

किये जा रहे हैं जिनका काम इस नयी समझदारी के जरिए आर्थिक संसाधन जुटाना है।

विदेशों में भारतीय उच्चशिक्षा के प्रोत्साहन के लिए यू जी सी की कमेटी ने 20 ऐसे विश्वविद्यालयों का चयन किया है जो विदेशों में खुद को बेहतरीन भारतीय शिक्षा के व्यापारी के रूप में स्थापित कर सकते हैं। यू जी सी अब दुनिया भर में शिक्षा की मार्केटिंग करने वाली संस्था हो गयी है। ए आई सी टी ई और नेशनल ऐसेसमेण्ट एण्ड एक्रीडीशन काउंसिल (नाक) भी उच्च शिक्षण संस्थाओं पर लगातार इस बात के लिए दबाव बना रही है कि वे बाजार की जरूरतों के अनुरूप अपने पाठ्यक्रमों में तेजी से बदलाव लायें और वही पढ़ाये जिसकी बाजार में माँग हो।

शिक्षा के निजीकरण ने देश के भीतर शिक्षा सुविधाओं के मामले में बड़े पैमाने पर क्षेत्रीय विषमता को जन्म दिया है क्योंकि जिन इलाकों में पूँजीवादी विकास के चलते उपभोक्ता वर्ग का विकास अपेक्षतया अधिक हुआ है उन्ही इलाकों में पूँजीपति प्राइवेट कालेज खोलना फायदेमन्द समझते हैं। यही कारण है कि चार दक्षिणी राज्यों और महाराष्ट्र की आबादी भारत की आबादी का 32% है जबकि वहाँ 60% व्यावसायिक पाठ्यक्रम वाले संस्थान हैं। इसके विपरीत 34% आबादी वाले उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, बिहार और झारखण्ड में ऐसे संस्थान केवल 14% है। निजीकरण के इस दौर में सैकड़ों तरह के पाठ्यक्रमों और विषयों में से केवल भारी मुनाफा देने वाले, रोजगार परक पाठ्यक्रमों को ही तरजीह दी जा रही है। इस संकीर्ण बाजार केन्द्रित नजिरए के कारण शिक्षा के व्यापक उद्देश्य और उसके चहुमुँखी विकास पर अत्यन्त घातक प्रभाव पड़ रहा है। सन 2000 तक भारत में 1200 से अधिक प्राइवेट इंजीनियरिंग कॉलेज और 720 प्राइवेट मैनेजमेन्ट कॉलेज थे। इंजीनियरिग कॉलेजों में भी केवल 4 ट्रेडों-कम्प्युटर, इलेक्ट्रानिक्स, सूचना तकनीक और कम्यूनिकेशन। इस बीच विशुद्ध विज्ञान, मानविकी, भाषा और साहित्य के क्षेत्र में शायद ही किसी निजी संस्थान की स्थापना हुई हो। विदेशी पूँजीपतियों में शिक्षा के जगत में प्रवेश के परिणाम स्वरूप पहले से ही चली आ रही विषमता की यह खाई और भी चौड़ी हो रही है क्योंकि मुनाफे को एकमात्र प्रेरक शक्ति मानने और सभी तरह के नियन्त्रण से मुक्त होने के चलते ये संस्थाँए आम छात्रों के लिए शिक्षा के अवसर, पाठ्यक्रमों के चुनाव, उनकी गुणवत्ता और कीमत के मामले में देशी खिलाड़ियों से नौ हाथ आगे हैं।

भारत में शिक्षा का व्यापार कितना विराट रूप धारण कर चुका है इसका अन्दाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि आज शिक्षा क्षेत्र प्रिंट मीडिया को विज्ञापन देने वाला तीसरा सबसे बड़ा क्षेत्र है। अखबारों में पूरे पन्ने के आकर्षक विज्ञापनों के शिक्षण संस्थानों पर साप्ताहिक परिशिष्ट निकल रहे हैं जो देशी-विदेशी संस्थाओं के नये-नये व्यावसायिक पाठ्यक्रमों के आकर्षक विज्ञापनों से पटे होते है।

उच्च शिक्षा के संकट के बारे में भ्रामक और बेबुनियाद धाराणाएं

शासक वर्गों को जब अपनी नीतियों को सर्वस्वीकृत बनाना होता है तो वे कुछ ऐसे तर्क गढ़तें है जो कॉमन सेंस के लिहाज से हमें बिलकुल सही लगते हैं। फिर इन तर्को को वे विभिन्न प्रचार माध्यमों, अपने जरखरीद विद्वानों और अपने कलमघिस्सू पत्रकारों के जरिये जन-जन तक पहुंचाते हैं। शिक्षा के व्यावसायीकरण के मामले में भी ऐसा ही हुआ है। राह चलते लोग भी शिक्षा के संकट पर ऐसी दृढ़ता और आत्मविश्वास के साथ अपने "मौलिक विचार" रखते हैं, जैसे वह अन्तिम सत्य हो। हालाँकि थोड़ी ही बातचीत के बाद उनके तर्कों का आधार खिसक जाता है। ये लोकप्रचलित धाराणाएँ आम जनता को किसी समस्या पर गहराई से विचार करने और उसकी जड़ तक पहुंचने से रोकती हैं और शासक वर्गों के लिए अपनी जनविरोधी नीतियों को निर्बाध रूप से लागू करते जाने में सहायक होती हैं। शिक्षा के संकट की कुछ ऐसी ही भ्रामक, सतही और गलत व्याखाओं की चर्चा करना जरूरी है, जो आज अक्सर दुहरायी जाती हैं।

पहली बहुप्रचलित मान्यता यह है कि चूँकि उच्चशिक्षा आर्थिक वृद्धि और विकास के लिए महत्वपूर्ण नहीं है, इसलिए सरकार इस पर ध्यान नहीं देती। इसके लिए उच्चशिक्षा से होने वाले लाभ के कुछ अनुमानित आँकड़े भी दिये जाते हैं, जो भ्रामक हैं। शिक्षा कोई ऐसी चीज नहीं है, जिससे होने वाले लाभ को ठोस और प्रत्यक्ष रूप में मापा जा सके। लेकिन दुनिया का इतिहास यह बताता है कि जिन देशों ने उच्चशिक्षा पर लम्बे समय तक धैर्यपूर्वक निवेश किया, वहाँ का सामाजिक-आर्थिक विकास चिरस्थायी और दीर्घकालिक रहा है। उच्चशिक्षा में अधिक नामांकन (20% से अधिक) वाले देशों ने आर्थिक प्रगति की है। दूसरे शब्दों में, कम नामांकन और किसी देश की निम्न आय के बीच सीधा सम्बन्ध होता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विकास की दौड़ में शामिल कई देशों जैसे चीन, कोरिया, इजराइल, ब्राजील इत्यादि का अनुभव यह बताता है कि शिक्षा जैसे सामाजिक क्षेत्र में अधिक सरकारी खर्च के चलते वहां आर्थिक क्षेत्र में काफी प्रगति हुई। हमारे देश में उच्चशिक्षा की लगातार उपेक्षा का ही परिणाम है कि आजादी के सत्तावन वर्षों बाद भी हम विकास के दौड़ में काफी पीछे हैं और मानवीय सूचकांक के मामले में हमारा देश दुनिया के निर्धनतम देशों के बगल में खड़ा है।

दूसरी मान्यता जो 1990 के बाद फैलायी गयी है कि माध्यमिक और उच्चशिक्षा की उपेक्षा किये बिना भारत में सबके लिए प्राथमिक शिक्षा का लक्ष्य प्राप्त नहीं किया जा सकता। यह सोच एक स्तर की शिक्षा को दूसरे के खिलाफ खड़ा करता है और शिक्षा क्षेत्र को खण्ड-खण्ड करके देखता है। यह निर्विवाद है कि प्राथमिक, माध्यमिक और उच्चशिक्षा आपस में पूरी तरह जुड़ी हुई है और इनमें से सभी स्तर की शिक्षा हमारे लिए जरूरी है। सरकार ने यह तय कर लिया है कि गरीबों के लिए प्राथमिक शिक्षा का बंदोवस्त कर देना भी बहुत है और सरकार इससे ज्यादा नहीं करेगी। सच्चाई यह है कि आजादी के बाद से आज तक सरकार

ने प्राथमिक शिक्षा के प्रति अपने दायित्व को भी पूरा नहीं किया । दरअसल सरकार का गरीब बच्चों को शिक्षित करने का इरादा कभी भी नहीं था, लेकिन पहले वे गरीबों के प्रति अपनी घृणित भावनाओं का इतने नग्न रूप में इजहार करने से बचती थी।

सामाजिक, आर्थिक और शैक्षिक उन्नति के लिए प्राथमिक शिक्षा बुनियादी जरूरत है, लेकिन इतना ही काफी नहीं है। आज की दुनिया में उच्चशिक्षा का महत्व और लोगों की माँग पहले से कहीं ज्यादा बढ़ गयी है। क्या हम सरकार के इस वायदे पर भरोसा कर सकते हैं कि पहले वह सबको प्राथमिक शिक्षा देगी, फिर माध्यमिक और फिर उच्च शिक्षा? आजादी के 10 वर्षों के अंदर 14 वर्ष तक के बच्चों को शिक्षित करने की घोषणा का क्या हुआ? 1990 में सर्व शिक्षा सम्मेलन के बाद सरकार ने क्या किया ? प्राथमिक शिक्षा को महत्व देने का तर्क वास्तव में उच्चशिक्षा की उपेक्षा करने और इसकी जिम्मेवारी से बचने के लिए गढ़ा गया भ्रामक तर्क है। हमने पहले ही इस बात के लिए तथ्य दिये हैं कि 1990 के दशक में उच्चशिक्षा के मद में सरकार द्वारा जो कटौती की गयी, उस बचत को प्राथमिक या माध्यमिक शिक्षा के लिए आवंटित नहीं किया गया।

तीसरी गलत मान्यता यह है कि यदि उच्चशिक्षा महत्वपूर्ण है भी तो कोई जरूरी नहीं कि सरकार ही इसकी व्यवस्था करे। निजी पूंजीपति भी तो इसका इंतजाम कर सकते हैं। क्यों न सरकार इस क्षेत्र से अपना हाथ खींच ले और निजी क्षेत्र उच्चशिक्षा के विकास का जिम्मा सम्भाले, इससे संसाधनों की बचत होगी। लेकिन सच्चाई यह है कि दुनिया के किसी भी देश में निजी पूंजीपति बड़े पैमाने पर उन्नत स्तर की उच्चशिक्षा उपलब्ध कराने का जिम्मा नहीं लेते। निजी पूँजीपतियों का मूल चरित्र है मुनाफाखोरी, निहित स्वार्थ और अपने तात्कालिक लाभ की चिंता करना। जहाँ-जहाँ निजी पूँजीपतियों की घुसपैठ हुई है, वहाँ उन्होंने शिक्षा के स्तर को नीचे गिराया है और साथ ही गैर बराबरी को भी बढ़ावा दिया है। यह सोच एकदम गलत है कि उच्चशिक्षा किसी भी तरह बढ़े, चाहे निजीकरण से ही क्यों न बढ़े। लातिन अमरीकी देशों और फिलीपीन्स में उच्चशिक्षा के विस्तार में मूलत: निजी पूँजीपतियों का हाथ रहा है, लेकिन वहाँ का समाज आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक या शैक्षिक किसी भी मामले में अधिक प्रगति नहीं कर पाया। दूसरी ओर यूरोप और अमरीका जो आज पूरी दुनिया में निजीकरण का उपदेश देते फिर रहे हैं, वहाँ की सरकारों ने खुद उच्च शिक्षा व्यवस्था के विस्तार पर भरपूर ध्यान दिया और आज भी दे रही है।

कुछ लोगों का यह भी मानना है कि शिक्षा के निजीकरण में कोई बुराई नहीं है और इसे बढ़ावा देना चाहिए, बशर्ते इसका व्यावसायीकरण न हो। लेकिन सिद्धान्त और व्यवहार में निजीकरण और व्यावसायीकरण में कोई अन्तर नहीं है। दोनों का एक ही मकसद है- ज्यादा से ज्यादा कमाई करना। चाहे निजी संस्थान हो या सरकारी संस्थान-सबकी लालसा यही है कि वे आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर और लाभप्रद बनें। इसलिए यह नहीं हो सकता कि कोई निजी संस्थान व्यावसायिक हुए बिना ही आत्मनिर्भर हो जाये और मुनाफा कमाये।

उच्चशिक्षा की उपेक्षा का एक कारण यह बताया जाता है कि सरकार के पास पैसा

नहीं है। यह तर्क भी झूठा और भ्रामक है। असली सवाल प्राथमिकता का है। सरकार चाहे तो ध न जुटा सकती है। हमारे देश में भ्रष्ट नेताओं, पूंजीपतियों, अफसरों और काली कमाई में लगे मुट्ठीभर लोगों के पास अनुमानत: 7 से 10 लाख करोड़ रुपये काला धन के रूप में मौजूद है, जिसे आसानी से निकाला जा सकता है।(यह और बात है कि जिन लोगों के ऊपर यह जिम्मेदारी है वही काला धन दबाये बैठे हैं।) दूसरे सरकार पूंजीपतियों को सब्सिडी, टैक्स में छूट में छूट और कर्जमाफी के रूप में अरबों रुपये हर साल भेंट करती है। तीसरे, नौकरशाही और नेताओं की अय्यासी पर अरबों रुपये खर्च होते हैं। जाहिर है कि सरकार चाहे तो विभिन्न उपायों से धन जुटाकर उसे शिक्षा पर खर्च करना कोई मुश्किल नहीं है। लेकिन यह काम कोई जनपक्षध र सरकार ही कर सकती है, मुट्ठीभर अभिजातों के हित में काम करने वाली सरकार से यह उम्मीद नहीं की जा सकती।

उच्चशिक्षा के बारे में फैलायी गयी उपरोक्त धाराणाएं भ्रामक, बेबुनियाद और खतरनाक है। शिक्षा के प्रति सरकार के उपेक्षापूर्ण व्यवहार और इसे बिकाऊ माल बना देने के पीछे असली कारण सरकार का जनविरोधी चरित्र और उसके वर्गीय स्वार्थ हैं। साथ ही शिक्षा के प्रति शासक वर्गों की पहले से चली आ रही सोच में जो तेजी से बदलाव आया है, उसमें पिछले दो दशकों के दौरान देश दुनिया की आर्थिक-राजनीतिक परिस्थितियों में हुए कुछ विशेष परिवर्तनों की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही है, जिन पर आगे विचार किया जायेगा।

विश्व परिस्थितियों में बदलाव और शिक्षा का व्यावसायीकरण

लगभग 20 वर्षों से विश्वबैंक और अन्य साम्राज्यवादी संस्थाएँ अपने नीतिगत दस्तावेजों, विश्वसम्मेलनों, कर्जे की किस्तों उनसे जुड़े शर्तनामों और सरकार के साथ किये गये समझौतों के द्वारा लगभग 20 वर्षों से हमारे देश की शिक्षा नीतियों को बदलने और शिक्षा को बिकाऊ माल बना देने का प्रयास कर रही हैं। हमारे देश के शासक भी उनकी कारगुजारियों में भरपूर सहयोग कर रहे हैं। आखिर इसका कारण क्या है? इसमें कोई दो राय नहीं कि 20 साल पहले तक साम्राज्यवादी देशों और हमारे देश के शासकों का आर्थिक नीति और शिक्षा नीति के बारे में वही नजरिया नहीं था जो आज देखने को मिल रहा है। वैश्वीकरण, उदारीकरण, निजीकरण, ढाँचागत समायोजन जैसे फिकरों का ऐसा शोर भी पहले सुनायी नहीं देता था, जिनकी आड़ में आज अर्थव्यवस्था और शिक्षा तंत्र में भारी फेरबदल किये जा रहे हैं। इनके कारण क्या हैं? निश्चय ही, पूरी दुनिया और हमारे देश की आर्थिक-राजनीतिक परिस्थितियों में पिछले कुछ दशकों के दौरान जो महत्वपूर्ण बदलाव आये हैं, उन्हें अच्छी तरह समझे बिना हम इन नीतिगत बदलावों की सही समझ हासिल नहीं कर पायेंगे। विश्व बैंक, विश्व व्यापार संगठन और भारतीय शासकों के बीच की साँठ-गाँठ को भी हम तभी समझ पाएंगे जब दुनिया के निकट अतीत की घटनाओं का सरसरी तौर पर एक जायजा लें।

1980 के दशक में अमरीका, यूरोप और जापान सहित साम्राज्यवादी देशों में आर्थिक संकट लगातार गहराता रहा था। उद्योग और कृषि सहित उत्पादन के विभिन्न क्षेत्रों और उनसे जुड़े सहायक क्षेत्रों में विकास की कोई सम्भावना नहीं रह गयी थी। मुनाफे के जरिए जितने बड़े पैमाने पर पूँजी जमा हो रही थी उसका निवेश करने के लिए नये-नये क्षेत्रों का अभाव था। सोवियत खेमे और तीसरी दुनिया के नव स्वाधीन देशों ने अपनी अर्थव्यवस्थाओं में इन साम्राज्यवादी देशों की घुसपैठ को काफी हद तक नियंत्रित कर रखा था। उत्पादक गतिविधियों में गुन्जाइश न होने के चलते मजबूरी में साम्राज्यवादी देशों ने अपनी अतिरिक्त पूँजी सट्टेबाजी में लगानी शुरू की। साथ ही, उन देशों में सेवा क्षेत्र जैसे-शिक्षा, स्वास्थ्य, पर्यटन, होटल, मनोरंजन इत्यादि का भी तेजी से विस्तार हुआ।

इसी के साथ कम्प्यूटर, सेटेलाइट, सूचना प्रौद्योगिकी, जेनेटिक इंजिनियरिंग सहित ज्ञान की नयी-नयी खोजों ने ऐसे श्रमिकों की जरूरत पैदा की जिनका उच्च शिक्षा विशिष्ट प्रशिक्षण प्राप्त करना जरूरी था। परम्परागत उद्योग और कृषि की तुलना में यहाँ काफी बड़े पैमाने पर पूँजीनिवेश और बहुत कम श्रमिकों के जरिए भारी मुनाफा कमाना संभव था। उच्चतकनीक पर आधारित होने के कारण पुराने तरह के उद्योगों के रोजगार और विकास पर इसका नकारात्मक प्रभाव पडना लाजिमी था। फिर भी इन क्षेत्रों में काम करने वाले ज्ञान-श्रमिकों (नॉलिज वर्कर्रों) को तैयार करने के लिए नये-नये पाठ्यक्रमों और शिक्षण-संस्थानों की भी जरूरत पड़ी। चूँकि ज्ञान

आधारित नये क्षेत्रों में कम संख्या में काफी अधिक वेतन वाले श्रमिकों की जरूरत थी इसलिए ऐसे पाठ्यक्रमों की माँग काफी तेजी से बढ़ी और खुद इस नये तरह की शिक्षा, को ही बिकाऊ माल बनाकर भरपूर मुनाफा कमाने की स्थिति पैदा हुई। शिक्षा के अन्य क्षेत्रों में पहले सीमित व्यावसायीकरण था, वहाँ भी इन्हीं की देखा-देखी तेजी से मुनाफाखोरी बढ़ने लगी।

1980 के दशक में विकसित देशों के उत्पादन और रोजगार में सेवा क्षेत्र की हिस्सेदारी बढ़कर 60% हो गयी। यूरोपीय संघ की अर्थव्यवस्था और रोजगार में 66% और उनके निर्यात में 25% हिस्सा सेवा क्षेत्र का था। पिछले 5 वर्षों के दौरान अमरीकी अर्थव्यवस्था के विकास का दो-तिहाई हिस्सा सेवा क्षेत्र से आता था। भारत से अमरीका पढ़ने जाने वाले छात्रों की संख्या 1997-98 में 31,000 से 4 वर्षों में लगभग ढाई गुना बढ़कर 74,603 हो गयी। कुल विदेशी छात्र और उनसे होने वाली आय (जिसे सेवा क्षेत्र का निर्यात माना जाता है) के मामले में अमरीका का दुनिया में सर्वोपरि स्थान है। उसके बाद क्रमशः इंग्लैण्ड, आस्ट्रेलिया, इटली और कनाडा आते हैं। सेवा क्षेत्र के विस्तार का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि 2000 में अमरीका को केवल शैक्षिक सेवाओं के निर्यात से 10 अरब डालर की कमाई हुई जबकि शिक्षा वहाँ का 5 वें नम्बर का सेवा क्षेत्र है। इनका 58% निर्यात एशियाई देशों को किया गया। सहज ही यह बात समझी जा सकती है कि साम्राज्यवादी देश शिक्षा के व्यावसायीकरण के लिए इतने उतावले क्यों हैं?

सच तो यह है कि उद्योग और कृषि की तुलना में सेवा क्षेत्र का विस्तार अर्थव्यवस्था के लिए कैंसर के समान है। साम्राज्यवादी देश अपनी पूँजी और तकनीक की उच्चतर स्थिति के कारण इस विकृति को झेल सकते हैं, लेकिन भारत जैसी कमजोर अर्थव्यवस्थाओं के लिए यह कैंसर प्राण घातक हो सकता है। मुट्ठीभर लोगों की अय्याशी के लिए उद्योग-विहीन रोजगार-विहीन विकास और सेवा क्षेत्र का विस्तार निश्चय ही देश की भारी आवादी के लिए तबाही और परिणामस्वरूप सामाजिक उथल-पुथल लाने वाला साबित होगा। लेकिन आपनी अदूरदर्शिता और स्वार्थ लिप्सा के चलते शासक पूँजीपति वर्ग को इन मतों की कोई परवाह नहीं। भारत में भी सेवा क्षेत्र का विस्तार उद्योग और कृषि को तेजी से पीछे छोड़ता जा रहा है।

गैट की उरूग्वे-चक्र की वार्ताओं में पहली बार सेवाओं के व्यापार से सम्बन्धित सामान्य समझौता(गैटस) को शामिल किया गया था। इसके अर्न्तगत शिक्षा सहित 160 सेवाओं को विश्व व्यापार समझौते के अधीन लाया गया। 1995 में साम्राज्यवादी देशों के वर्चस्व वाले गैट समझौते को ही विश्व व्यापार संगठन में तब्दील कर दिया गया जो अब केवल समझौता वार्ता करने तक ही सीमित नहीं है बल्कि विश्व-पूँजीवादी व्यवस्था के संचालन के लिए कायदे कानून बनाने और उन्हें लागू करवाने वाला स्थायी संगठन है। इसके पहले विश्वबैंक और मुद्राकोष ने 'ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम' लागू करवाकर पूरी दुनिया को साम्राज्यवादी वर्चस्व के अधीन करने और विश्वव्यापार संगठन को क्रियान्वित करने की जमीन तैयार कर दी थी।

साम्राज्यवादी-पूँजीवादी शक्तियाँ दुनिया की हर चीज को बिकाऊ माल में बदलकर उसे मुनाफे का साधन बना देना चाहते हैं। यही उनकी आत्मा है, यही उनका दर्शन। सभ्यता के प्रारम्भ

से ही मानव समाज के विकास में शिक्षा की महत्वपूर्ण भूमिका रही है और आज भी यह इंसान और इंसानियत की अनिवार्य जरूरत है। आज दुनिया में जो भी ज्ञान-विज्ञान मौजूद है, वह इंसानियत के समूहिक प्रयासों की देन है और उस पर सबका समान अधिकार है। इसे निजी सम्पत्ति और मुनाफे का साधन बनाना अनैतिक और आपराधिक कुकृत्य है। लेकिन अपराध पर टिकी पूँजीवादी व्यवस्था से इससे भिन्न आचरण की उम्मीद भला कैसे की जा सकती है?

विश्व व्यापार संगठन के माध्यम से साम्राज्यावादी देशों की बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ सभी तरह की शिक्षण संस्थाओं और शिक्षा से उत्पन्न होने वाली हर चीज को बाजार और मुनाफे के दायरे में ले आना चाहती हैं। विश्वव्यापार के बहुत बड़े हिस्से पर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का कब्जा है। उत्पादन और वितरण के अन्य क्षेत्रों के विकास में ठहराव को देखते हुए ये कम्पनियाँ व्यापार के नये क्षेत्रों को भी मुनाफे का साधन बनाना चाहती हैं। साम्राज्यवादी शक्तियों की मंशा और उनके मूल उद्देश्यों की घनीभूत अभिव्यक्ति विश्व व्यापार संगठन के दस्तावेज की इन पंक्तियों में हुई है- "जहाँ कहीं भी निजी क्षेत्र के द्वारा किसी चीज का व्यापार करना संभव है, वहाँ ऐसी परिस्थिति मौजूद होनी चाहिए कि उस काम को किया जा सके। स्पष्टत: जहाँ कहीं भी सरकार उस क्षेत्र में काम कर रही हो, जो 'बाजार' द्वारा संचालित किया जा रहा हो या किये जाने की संभावना मौजूद हो, वहाँ सरकार की कार्रवाइयाँ निजी बाजारों के निर्माण में अवरोध हैं और इसलिए उन पर अंकुश लगाने की जरूरत है।"

इस नए दर्शन में व्यापार के लिए उन सभी क्षेत्रों को समाहित कर लेने की क्षमता है जो समाज के लिए जरूरी हैं, जैसे-शिक्षा, स्वास्थ्य, पानी, बिजली, सड़क, डाक-तार, दूरसंचार, मनोरंजन इत्यादि। इसी दर्शन के हवाले से पूरी दुनिया के पूँजीपति विश्व व्यापार संगठन के मंच से दुनिया के सभी देशों की सरकारों से शिक्षा का निजीकरण और व्यावसायीकरण करने तथा सरकारी नियंत्रण हटाने की माँग कर रहे हैं। विकसित पूँजीवादी देशों का पूँजीपति वर्ग इससे अधिक लाभान्वित होगा, लेकिन अपने छुद्र वर्गीय स्वार्थों के चलते भारत जैसे देशों के शासक भी इस साजिश में उनके बराबर के सहयोगी हैं।

पिछले कुछ वर्षों में भारत जैसे देशों में भी सेवा क्षेत्र का तेजी से विस्तार हुआ है। शिक्षा आज भरपूर माँग और मुनाफे का क्षेत्र है। भारत में उपभोक्ता वर्ग का प्रतिशत भले ही कम हो, लेकिन भारी आबादी वाले देश में यह छोटा-सा ऊपरी तबका भी कुल मिलाकर काफी बड़ा बाजार निर्मित करता है। साथ ही दुनिया में कई ऐसे देश हैं जो भारत से भी गरीब और अविकिसित हैं, जिनको शिक्षा का निर्यात किये जाने की भरपूर संभावना मौजूद है। शिक्षा के सौदागरों की निगाह उन देशों के बाजारों पर भी टिकी है।

दूसरे, भारत में शिक्षा के व्यापारी विकसित देशों को शिक्षा का निर्यात भले ही न कर पायें, लेकिन अपने देश के सस्ते मानवश्रम को उनकी जरूरतों के अनुरूप ढाल कर उसका निर्यात तो कर ही सकते हैं। और कुछ नहीं, तो वे ऐसे शिक्षित श्रमिक तैयार कर सकते हैं जो आउट सोर्सिंग के नाम पर अपने देश में ही सस्ते वेतन पर विदेशियों की गुलामी कर सकते हैं। सभी तथ्य इस बात के प्रमाण हैं कि क्यों शिक्षा को विश्वव्यापार के दायरे में लाने के लिए

साम्राज्यवादी संस्थाओं ने ऐड़ी-चोटी का पसीना एक कर दिया और भारत में शिक्षा के व्यावसायीकरण के लिए देशी-विदेशी पूँजीपति क्यों लालायित हैं?

यहाँ एक बात स्पष्ट करना जरूरी है कि 1990 के आस-पास दुनियाभर में कुछ ऐसी राजनीतिक घटनाएं हुई जिन्होंने दुनिया के शक्ति सन्तुलन में भारी बदलाव ला दिया। इनमें से पहली घटना थी रूस और पूर्वी यूरोप सहित भूतपूर्व समाजवादी देशों का विघटन और दूसरी घटना थी, तीसरी दुनिया के नवस्वाधीन देशों का साम्राज्यवाद के आगे समर्पण। यदि ऐसा नहीं हुआ होता तो विश्व पूँजीवाद के लिए वैश्वीकरण के नाम पर पूरी दुनिया की मेहनतकश जनता को गुलाम बनाने वाली अपनी साम्राज्यवादी नीतियों को इतना आसानी से थोपना संभव नहीं होता।

दूसरे विश्वयुद्ध के बाद पूरी दुनिया में राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष की धारा तेजी से आगे बढ़ रही थी। एक-एक कर देश आजाद हो रहे थे। ब्रिटिश साम्राज्यवाद का सूरज डूब चुका था और अमरीका नयी साम्राज्यवादी शक्ति के रूप में उभरा था। उस दौर में भी साम्राज्यवादी देश पूरी दुनिया पर अपना प्रभुत्व जमाने की हर संभव कोशिश करते रहे। 1944 में उन्होंने विश्वबैंक, मुद्राकोष और गैर जैसी संस्थाओं का गठन किया था। दुनिया पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए वे कर्ज, आर्थिक सहायता और कूटनीति के साथ-साथ धौंस पट्टी और सैनिक कार्रवाई भी करते रहे लेकिन उस दौर में, समाजवादी खेमे की नवस्वाधीन देशों के साथ स्वाभाविक एकता और आपसी सहयोग के चलते उनके मंसूबे पूरे नहीं हो पाये।

1956 में सोवियत संघ और 1977 में चीन ने जब समाजवाद का परित्याग कर दिया तब विश्वशक्ति सन्तुलन में साम्राज्यवाद का पलड़ा भारी होने लगा। लेकिन फिर भी तीसरी दुनिया के देश अपनी एकता के जरिए साम्राज्यवादियों की चुनौती का भरसक प्रतिरोध करते रहे और अपनी आजादी बनाए रखने के लिए प्रयत्नशील रहे। 80 के दशक में गोर्बाचोव ने 'ग्लासनोस्त' और पेरेस्त्रोइका के नाम पर रूस को विश्व पूँजीवादी व्यवस्था का अंग बनाने की मंशा जाहिर कर दी थी। साथ ही साम्राज्यवादी देश अपने अपने प्रचार माध्यमों और जासूसी तंत्र के जरिये दुनिया के देशों को अन्दर से कमजोर करने का प्रयास करते रहे। उधर तीसरी दुनिया के कई देश 80 के दशक में विश्वबैंक, मुद्राकोष के कर्जजाल में फंसते चले गये। इन सभी कारकों के साथ-साथ 1990 में रूसी खेमे के विखराव ने अमरीकी चौधराहट में विश्व साम्राज्यवाद को हमलावर रणनीति अपनाने का मौका दे दिया।

साम्राज्यवादी देशों के लिए गैट के अधीन शिक्षा को व्यापार समझौते में शामिल करने और उस पर सभी देशों को राजी करने का यही अनुकूल अवसर था। वरना 80 के दशक के मध्य तक उरूग्वे राउण्ड की वार्ताओं के दौरान उन्हें कोई सफलता नहीं मिल पायी थी।

इतिहास के इस मोड़ पर साम्राज्यवादी देशों और तीसरी दुनिया के पूँजीपतियों के हित भी एक बिन्दु पर आकर मिल गये। साम्राज्यवादी अर्थव्यवस्था को मंदी से निकालने के लिए नये बाजारों और लूट से जमा इफरात पूँजी के निवेश के लिए नये क्षेत्रों की जरूरत थी। तीसरी दुनिया के पूँजीपतियों की समस्या यह थी कि पूँजी के अभाव और पिछड़ी हुई तकनीक के बल पर उनके लिए अधिकाधिक मुनफा कमाना संभव नहीं था। साथ ही सूचना तकनीक में नयी खोजों

ने पूँजी की आवाजाही और घर बैठे पूँजी को नियंत्रित करने की क्षमता पहले से कहीं अधिक बढ़ा दी। इन सभी परिस्थितियों में अमरीका की अगुआई में साम्राज्यवादी देशों की वैश्विक लूट की महत्वाकांक्षा को बल प्रदान करने के लिए आर्थिक नवउपनिवेशवादी व्यवस्था कायम करने में काफी सहायता की। इस नयी साम्राज्यवादी विश्वव्यस्था के सोपानक्रम में ऊपर से नीचे की ओर शीर्ष पर अमरीकी नेतृत्व में ग्रुप-7 के देश फिर विकसित पूँजीवादी (ओ. ई. सी. डी.) देश, उसके नीचे विकासशील पूँजीवादी देश और सबसे नीचे तीसरी दुनिया के गरीब देश स्थित हैं। इस पिरामिड में किसी देश-विशेष की अवस्थिति का निर्धारक उसकी पूँजी और उत्पादक शक्तियों का स्तर है। भारत इस सोपान क्रम में सबसे निचले पायदान पर स्थित है।

विश्व बैंक, विश्वव्यापार संगठन और अन्य साम्राज्यवादी संस्थाएँ तथा तीसरी दुनिया के शत्रु सहयोगी शासक वर्ग आज एक ऐसी शिक्षा व्यवस्था तैयार करने में जुटे हैं जो आर्थिक नवउपनिवेशवाद की नयी गुलामी के अनूरूप हो। पिछले 20 वर्षों से हमारे देश में शिक्षा नीतियों में किये जा रहे बदलावों पर गौर करें तो यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है।

शिक्षा का संकट पूँजीवादी व्यवस्था के संकट का अभिन्न अंग

शिक्षा व्यवस्था हर युग में मौजूद सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था के अनुरूप होती है और उसको सुचारू रूप से संचालित करने में सहायक होती है। किसी समाज में आर्थिक उत्पादन के साधन क्या हैं? उनका स्वामित्व किनके हाथों में है, उत्पादन के साधनों पर श्रम कौन करता है और उत्पादन का बँटवारा किस प्रकार होता है, यानि समाज की उत्पादन प्रणाली किस अवस्था में है, इसी आधार पर उस समाज में शिक्षा, संस्कृति, राजनीति और अन्य सामाजिक संरचनाओं का निर्माण और निर्धारण होता है। साथ ही, समाज व्यवस्था और शिक्षा व्यवस्था के बीच अन्योन्याश्रय सम्बन्ध होता है और दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। समाज में होने वाले परिवर्तनों के अनुरूप शिक्षा व्यवस्था में भी परिवर्तन हो रहे हैं। प्राचीन काल की गुरूकुल शिक्षा प्रणाली से लेकर शिक्षा के बाजारीकरण के वर्तमान दौर तक, शिक्षा के उद्देश्य, शिक्षणविधि और शिक्षा के ढाँचे में जो भी बदलाव हुए हैं, उन सबके पीछे उत्पादन प्रणाली में होने वाले परिवर्तनों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

किसी समाज में उत्पादन के साधनों जैसे जमीन, उद्योग-धंधे इत्यादि का मालिकाना जिन वर्गों के हाथों में होता है, उन्हीं वर्गों का राजसत्ता पर भी कब्जा होता है। राजसत्ता हमेशा अपनी नीतियों और अपने प्रभाव को व्यापक जनता में स्थापित करो तथा अपने सत्ता को बरकरार रखने के लिए शिक्षा व्यवस्था को अपने हितों के अनुरूप ढालती है और उसका इस्तेमाल करती है। यह बात अंग्रेजी राज से पहले और अंग्रेजों की गुलामी के दौरान जितनी सच थी, आजादी के बाद भी उतनी ही सच रही है। यहाँ तक कि 1986 से शुरू होकर आज तक शिक्षा नीतियों में जो तीव्र बदलाव हो रहे हैं, उन्हें हम इसी संदर्भ में समझ सकते हैं।

अंग्रेजों के शासनकाल में शिक्षा का उद्देश्य और उसका विकास औपनिवेशिक ताकतों (अंग्रेजों) की जरूरतों से तय हुआ था। अपने प्रशासनिक कार्यों के संचालन के लिए निम्न श्रेणी के कर्मचारियों को शिक्षित करना इसका शुरूआती मकसद था। 1835 में मैकाले ने अपनी कुख्यात टिप्पणी में कहा था- "भारत के कुछ चुने हुए मूल निवासियों को इस तरह शिक्षित किया जाय कि वे हमारे और उन करोड़ों लोगों के बीच बिचौलिए की तरह हो जिनपर हम शासन करते हैं। इन व्यक्तियों के एक ऐसे वर्ग को शिक्षित किया जाना चाहिए जो रक्त और रंग से भारतीय, किन्तु रूचि, दृष्टिकोण, नैतिकता और बुद्धि से अंग्रेज हों।"

अंग्रेजी राज की शिक्षा का प्रारम्भिक लक्ष्य अपनी औपनिवेशिक सत्ता के लिए कारिन्दे, सहयोगी और समर्थक बनाने के साथ-साथ एक ऐसा उपभोक्ता वर्ग भी तैयार करना था जो मैकाले के शब्दों में "हमारे कपड़े पहने और छुरी काँटों का इस्तेमाल करते हुए अंग्रेजी मालों का मोलभाव और खरीदारी करने में अनभिज्ञ या निर्धन नहीं होना चाहिए।"

1833 में ईस्ट इंडिया कम्पनी गम्भीर आर्थिक संकट की शिकार थी। उससे उबरने के

लिए यह सुझाव दिया गया था कि यूरोपीय कर्मचारियों के ऊपर होने वाले खर्चों में कटौती करने के लिए उनकी जगह बहुत ही कम वेतन पर भारतीय लोगों को रोजगार दिया जाय। इसके लिए क्लर्कों और ओवरसियरों को अंग्रेजी पढ़ाना और तकनीकी शिक्षा देना जरूरी था। आगे चलकर चार्ल्स वुड विज्ञप्ति में कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में विश्वविद्यालय शुरू करने की सिफारिश की गयी। 1857 में इनकी स्थापना हुई।

अंग्रेजी शिक्षा के सीमित प्रसार से ही एक हद तक राष्ट्रीय चेतना बढ़ने लगी तो थॉमस रैले कमीशन रिपोर्ट में शिक्षा को सीमित करने का सुझाव दिया गया। काँग्रेस अधिवेशनों में इसके खिलाफ प्रस्ताव लिया गया तथा गोपाल कृष्ण गोखले और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने विरोध प्रदर्शनों का नेतृत्व किया।

जैसे-जैसे उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष आगे बढ़ा, ब्रिटिश साम्राज्यवादियों और भारत के उभरते पूँजीपतियों के बीच शिक्षा नीति को लेकर भी टकराव सामने आया। राष्ट्रीय आन्दोलन के नेताओं ने जगह-जगह पर भारतीय शिक्षा केन्द्रों की स्थापना की, वहीं टाटा ने पूँजीवादी विकास को ध्यान में रखते हुए भारतीय छात्रों को विज्ञान और तकनीक की शिक्षा देने के लिए 1909 में इण्डियन इंस्टीटयूट ऑफ साइन्सेज की स्थापना की। अपने स्वार्थों के चलते ब्रिटिश साम्राज्यवादी शिक्षा को सीमित करने और छात्रों को राजनीति से दूर रखने का प्रयास कर रहे थे, जबकि भारतीय पूँजीपति वर्ग शिक्षा के जरिए अपने लिए कुशल श्रमिक तैयार करना और शिक्षा के प्रचार का लाभ उठाते हुए स्वाधीनता आन्दोलन मजबूत बनाना चाहते थे। अंग्रेजों ने अपनी जरूरतों के अनुरूप सीमित लोगों तक ही शिक्षा का प्रसार किया और इसके अभिजात वर्गीय चरित्र को बनाए रखा।

दीर्घकालिक जनसंघर्षों और असंख्य कुर्बानियों के बाद हमारा देश 1947 में आजाद हुआ और पूँजीपति वर्ग की पार्टी कांग्रेस के हाथों में सत्ता आयी। लेकिल भारत के इस नये शासक पूँजीपति वर्ग का चरित्र यूरोप के उन पूँजीपतियों समान नहीं था जिन्होंने अपने देश के सामन्तों की सत्ता को पूँजीवादी जनक्रान्ति के जरिए उखाड़ फेंका था। इसके विपरीत भारत का पूँजीपति वर्ग औपनिवेशिक समाज के ढाँचे के भीतर अंग्रेजों के साथ समझौता और साँठ-गाँठ करते हुए पैदा हुआ था। साथ ही यह पूँजीवादी क्रान्तियों के 200 वर्षों बाद इतिहास के उस दौर में पूँजीवादी विकास की ओर कदम रख रहा था, जब विश्वपूँजीवाद अपने बुढ़ापे की अवस्था-साम्राज्यवाद के युग में प्रवेश कर चुका था और इतिहास में अपनी सकारात्मक भूमिका खो चुका था। इन्हीं कारणों से प्रारम्भ में ही भारतीय पूँजीवाद विकृत और विकलांगता का शिकार था। दूसरे, रूस और चीन में क्रान्ति और इन देशों में मजदूरों-किसानों की सत्ता कायम होने के बाद भारत का पूँजीपति वर्ग मेहनतकश जनता के प्रति सशंकित था और इसीलिए वह व्यापक जनता को देश के चहुँमुखी विकास का सहभागी बनाने के लिए तैयार नहीं था। आजादी के समय उसके पास पूँजी और तकनीक का भी अभाव था और अपने दम पर देश के विकास का ढाँचा खड़ा करना उसके वश की बात नहीं थी।

अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जब भारत आजाद हुआ, इस दौरान

दुनिया का शक्ति सन्तुलन नवस्वाधीन देशों और, दुनिया की मेहनतकश जनता के पक्ष में था। इसकी पहले ही विस्तार से चर्चा की गयी है। इस अनुकूल परिस्थिति का लाभ उठाकर भारतीय शासक वर्ग ने अपनी राजनीतिक आजादी को बरकरार रखा और साम्राज्यवादी दबावों को झेलते हुए आत्मनिर्भर पूँजीवादी विकास का रास्ता अपनाया।

अपनी ऐतिहासिक और वर्गीय सीमाओं को ध्यान में रखते हुए भारतीय शासक वर्ग ने पूँजीवादी विकास की अपनी आकांक्षाओं को पूरा करने का प्रयास शुरू किया। आर्थिक विकास के लिए 'टाटा-बिड़ला प्लान' या नेहरू मॉडल की शुरूआत की। मेहनतकशों की विपुल क्षमता को देश के विकास में लगाने के बजाय उसने जनता से टैक्स वसूलकर सार्वजनिक क्षेत्र के अधीन ढाँचा न खड़ा किया। साथ ही पूँजी और तकनीक के लिए उसने साम्राज्यवाद से भी समझौता किया। समाज की उत्पादक शक्तियों को उन्मुक्त करने के लिए क्रान्तिकारी भूमि सुधार करने और पूँजीवादी विकास की गति को तीव्र करने के बजाय उसने समझौतों भरा मन्थर और पीड़ादायी रास्ता चुना ताकि उसके वर्गीय स्वार्थों पर कोई आँच न आये। इन नीतियों के चलते भारत में एक छोटा सा उपभोक्ता वर्ग पैदा हुआ जबकि बहुसंख्यक आबादी विकास की इस दौड़ में हाशिये पर खड़ी रही। आम जनता को आजादी के बाद जो कुछ भी लाभ मिला वह पूँजीवादी विकास का गौण परिणाम है।

आजादी के तत्काल बाद शिक्षा नीति की दिशा तय करने के लिए राधाकृष्णन आयोग का गठन किया गया जिसकी सिफारिशों में भारतीय शासक वर्ग की उपरोक्त आकांक्षाओं की स्पष्ट अभिव्यक्ति मिलती है। नेहरू ने विश्वविद्यालय स्तर की शिक्षा के महत्व पर जोर देते हुए कहा था कि "यदि विश्वविद्यालय अपने दायित्वों का समुचित निर्वाह करते हैं तो यह राष्ट्र और जनता के हित में होगा।" इसी भावना के अनुरूप राधाकृष्णन आयोग ने उच्चशिक्षा के विस्तार और उसके लिए जरूरी धन उपलब्ध करवाने की सिफारिश की। उसके बाद गठित विभिन्न शिक्षा आयोगों ने भी इसी नीति का अनुसरण करते हुए शिक्षा पर सकल घरेलू उत्पाद का 6% तक खर्च करने की सिफारिश की। हालाँकि सरकार इस लक्ष्य से हमेशा दूर रही, फिर भी आजादी के बाद विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों का तेजी से विस्तार हुआ।

आत्मनिर्भर पूँजीवादी विकास के सपने को पूरा करने के लिए भारतीय शासकों को बड़ी संख्या में इंजीनियर, तकनीशियन, प्रबंधक, वैज्ञानिक, डाक्टर, आर्थिक-राजनीतिक सलाहकार कूटनीतिज्ञ और कुशल मजदूर तैयार करना जरूरी था। इसके लिए जहाँ आई आई टी, आई आई एम व इंजीनियरिंग कालेज खोल कर प्रबन्धक और इंजीनियर तैयार किये गये वहीं जवाहर लाल नेहरू वि. वि. जैसी संस्थाओं का निर्माण करके व्यवस्था का संचालन करने वाले बुद्धिजीवी तैयार किये गये। आर्थिक उत्पादन के लिए कुशल श्रमिकों और प्रशासनिक जरूरतों का ध्यान रखते हुए प्राथमिक, माध्यमिक, तकनीकी और उच्च शिक्षा का एक पूरा ढाँचा खड़ा किया गया।

लेकिन आजादी के बाद देश के नये शासकों ने औपनिवेशिक शासन से विरासत में मिली प्रशासनिक व्यवस्था व अन्य क्षेत्रों की तरह शिक्षा व्यवस्था में भी कोई खास बदलाव नहीं किया।

शिक्षा प्रणाली को देश, समाज और जनता की आकांक्षाओं के अनुरूप ढालने की जगह अंग्रेजों द्वारा स्थापित औपनिवेशिक शिक्षा के ढाँचे में थोड़े बहुत फेर बदल के साथ उसे जारी रखा गया। शिक्षा के माध्यम के रूप में अंगेजी भाषा का वर्चस्व कायम रहा, विशेष तौर पर उच्च शिक्षा के क्षेत्र में। पाठ्यक्रमों में जहाँ एक तरफ औपनिवेशिक मूल्यों और विचारों को बनाये रखा गया, वहीं राष्ट्रवाद और भारतीय संस्कृति के नाम पर पुनरूत्थानवाद और अंधविश्वास को बढ़ावा देने वाले तत्वों का पाठ्यक्रम में समावेश कर दिया गया।

भारत के शासक वर्गों द्वारा अपनाये गये विकास के समझौता भरे पीड़ादायी रास्ते में इस बात की गुंजाइश नहीं थी कि शिक्षा को जन-जन तक पहुँचाया जाय। इसीलिए संविधान में 14 वर्ष तक के सभी बच्चों को अनिवार्य और मुफ्त शिक्षा देने का वचन और विभिन्न आयोगों द्वारा एक समान स्कूल और सार्वभौमिक शिक्षा की सिफारिशों के बावजूद आज तक यह लक्ष्य पूरा नहीं हुआ। आज भी बहुसंख्यक आबादी अक्षर ज्ञान से भी वंचित है। हाल ही में मानव संसाधन विकास मंत्री ने यह स्वीकार किया कि पहली कक्षा में नाम लिखवाने वाले हर 100 बच्चों में से केवल 47 बच्चे आठवीं तक पहुँच पाते हैं। 34 बच्चे तो पाँचवी कक्षा से पहले पढ़ाई छोड़ देते हैं। जो बच्चे स्कूल का मुँह भी नहीं देख पाते उनकी तो बात ही क्या है! अपने संवैधानिक दायित्व से पल्ला झाड़ते हुए सरकार गरीब बच्चों के लिए प्राथमिक शिक्षा की खानापूर्ति करने के लिए अनौपचारिक और वैकल्पिक स्कूलों की घटिया व्यवस्था कर रही है।

पूँजीवादी विकास का नेहरू मॉडल 60 वें दशक तक ठहरावग्रस्त हो गया। भूमि सुधार न होने के कारण कृषि क्षेत्र पर निर्भर एक बड़ी आबादी विकास के दायरे से बाहर रही, जिसके चलते औद्योगिक क्षेत्र का

अन्तरराष्ट्रीय पैमाने पर 80 के दशक से शुरू होकर 1990 तक निर्णायक मोड़ पर आ पहुँचे राजनीतिक-आर्थिक परिवर्तनों ने पूरी दुनिया का समीकरण बदल दिया। इससे भारत का शासक वर्ग भी अछूता नहीं रहा। 80 के दशक के कर्ज संकट के बाद से ही वह साम्राज्यवाद के साथ साँठ-गाँठ का रास्ता अपनाने लगा। 1990 के बाद आत्मनिर्भर विकास की आकाँक्षा को तिलाँजलि देकर, देश की बहुसंख्यक जनता के साथ गद्दारी करते हुए वह विश्वसाम्राज्यवाद के साथ नत्थी हो गया।

1986 के बाद, और खास तौर पर 1990 के बाद शिक्षा क्षेत्र में तेजी से जो बदलाव हुए हैं, उन्हें देशी-विदेशी गठजोड़ से स्थापित हो रही आर्थिक नव-उपनिवेशवादी अर्थव्यवस्था के साथ जोड़कर ही समझा जा सकता है। आज भारतीय शासक वर्ग हर क्षेत्र में विदेशी पूँजीनिवेश को आमंत्रित कर रहा है और देशी-विदेशी पूँजीपतियों की जरूरत के अनुरूप ढाँचागत बदलाव कर रहा है। उन्हीं के माल, बाजार और उपभोक्ता तैयार करने के लिए तथा उनका सामाजिक आधार तैयार करने के लिए आज एक नये तरह के शिक्षा की जरूरत है। शिक्षा का उद्देश्य अब देश और समाज के विकास की जगह कारपोरेट(पूंजीवादी) हितों के अनुरूप 'मानव संसाधन' का विकास करना, उनका मुनाफा बढ़ाने वाले शिक्षित चाकरों की फौज तैयार करना भर रह गया है।

हमारे देश के शासक वर्ग जिनके पुरखों ने 'अंग्रजों भारत छोड़ों का नारा' दिया था, आज 'साम्राज्यवादी भारत आओ' का नारा दे रहे हैं। और देशी-विदेशी पूंजी के गठजोड़ में ही अपना भविष्य तलाश रहे हैं। शिक्षा नीति के परिप्रेक्ष्य और दिशा के बारे में राष्ट्रीय आंदोलन के नेताओं ओर वर्तमान दौर के उनके वारिसों की सोच और कार्रवाइयों में जमीन आसमान का अन्तर दिखाई दे रहा है। यही कारण है कि शिक्षा नीतियों के निर्धारण में विश्व बैंक, विश्वव्यापार संगठन और बिरला-अम्बानी जैसे पूंजीपति प्रत्यक्ष भूमिका निभा रहे हैं।

बिड़ला-अम्बानी रिपोर्ट को सरकार कैसे लागू कर रही है?

* " जो उपभोग करे, वही खर्चा उठाए" के सिद्धान्त के आधार पर छात्रों से मनमानी फीस वसूली धड़ल्ले से हो रही है।
* सर्वोच्च न्यायालय प्राइवेट कालेजों पर से सरकारी नियंत्रण हटा चुका है।
* राष्ट्रीय मूल्यांकन एवं मानकीकरण परिषद (एन. ए. ए. सी.) द्वारा उच्च शिक्षण संस्थाओं का बाजार भाव तय करना शुरू हो गया है।
* निजी विश्वविद्यालय कानून पहले ही राज्य सभा में पारित।
* बाजारोन्मुख पाठ्यक्रमों का तेजी से विस्तार।
* भारतीय शिक्षा के निर्यात को बढ़ावा देने के लिए यूजीसी द्वारा निरन्तर प्रयास।
* अदालती फैसलों और प्रशासनिक आदेशों के द्वारा छात्रों, शिक्षकों और कर्मचारियों की यूनियनों और उनके चुनावों पर प्रतिबन्ध। छात्र संघ की माँग करने वाले छात्रों का बर्बर दमन।
* शिक्षकों और कर्मचारियों की दिहाड़ी और ठेके पर भर्ती करना, उन्हें जब चाहे भर्ती करना, जब चाहे निकाल देना।
* प्राइवेट संस्थाओं को हर तरह के अधिकार और पूरी आजादी लेकिन छात्रों, शिक्षकों, कर्मचारियों के लिए न कोई अधिकार ओर न कोई आजादी।
* मानव संसाधन विकास मंत्री अर्जुन सिंह ने भारतीय उद्योग संघ(सीआईआई) की सभा में हू ब हू बिड़ला-अंबानी रिपोर्ट की भाषा में कहा "शिक्षा क्षेत्र में औद्योगिक घराने अपना योगदान करे। सरकार नियंत्रण और प्रशासक की जगह सहयोग और सुविधा उपलब्ध कराने की भूमिका निभायेगी। इस काम में यदि वे मनाफा कमाएँ तो इसमें कोई बुराई नहीं है।

शिक्षा के व्यावसायीकरण के दुष्परिणाम

वैश्वीकरण की दानवी शक्तियों द्वारा शिक्षा-नीति में किये जा रहे बदलावों के घातक परिणाम अब सामने आ चुके हैं साम्राज्यवादी वैश्वीकरण के दौर में हमारे देश के शिक्षकों, शिक्षाशास्त्रियों और नीति-निर्माताओं की कोई निर्णायक भूमिका या पहलकदमी नहीं रह गयी है। उनकी भूमिका बस इतनी ही है कि वे वैश्वीकरण के कर्ता-धर्ताओं के आदेशों को सर झुका कर स्वीकार करें और गुलामों की तरह उनका पालन करें। उनका कर्तव्य सिर्फ यही रह गया है कि पूँजीवादी बाजार के हित में शिक्षा में किये जा रहे तोड़-मरोड़ के अनुरूप खुद को ढाल लें और छात्रों को भी उसी साँचे में ढालने का प्रयास करें।

शिक्षा नीति में बदलाव लाने में विश्व बैंक जैसी साम्राज्यवादी संस्थाओं और भारतीय पूँजीपतियों की प्रत्यक्ष भूमिका अब इस हद तक बढ़ गयी है कि किसी भी नये फैसले पर चाहे वह संविधान के विरूद्ध ही क्यों न हो, संसद में स्वीकृति लेना भी जरूरी नहीं समझा जाता। 1990 में सबके लिए शिक्षा पर जोमतियन सम्मेलन की सिफारिशों को लागू करने के लिए विश्व-बैंक से सीधे समझौता करके जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम शुरू किया जाना इसका स्पष्ट प्रमाण है। निजी विश्वविद्यालय कानून 1995 अभी संसद में अटका हुआ है, लेकिन उसके लगभग सभी प्रावधानों को बेरोक-टोक लागू किया जा रहा है। मतलब स्पष्ट है कि साम्राज्यवादी-पूँजीवादी शक्तियों के लिए जनभावना, संविधान और संवैधानिक संस्थाओं तथा बाजार-व्यवस्था के मार्ग में आने वाले किसी भी अवरोध की रत्तीभर भी परवाह नहीं है। इन शिक्षा नीतियों का चरित्र जितना स्वेच्छाचारी और जन-विरोधी है, उतने ही निरंकुश और स्वेच्छाचारी तरीके से इसे लागू भी किया जा रहा है। छात्रों-शिक्षकों या आम जनता ने जहाँ कहीं भी इन नीतियों का विरोध किया, उसे बर्बर तरीके से कुचलने में हमारे शासकों ने कोई कोर-कसर नहीं छोड़ा है।

शिक्षा में सुधार के नाम पर आज देशी-विदेशी पूँजी के हित में शिक्षा के मूल उद्देश्यों और बुनियादी दर्शन के ही निरर्थक और महत्वहीन बनाया जा रहा है। शिक्षा के माध्यम से देश की भावी पीढ़ी की अन्तर्निहित क्षमताओं को उन्मुक्त करके उसे समाज के संचालन के लिए तैयार करने के साथ-साथ उसका सर्वांगीण विकास करना और उसे एक जागरूक नागरिक बनाना ताकि वह देश और समाज की सेवा कर सके, अब शिक्षा का उद्देश्य नहीं रह गया। अब शिक्षा की दुकानों पर खड़ा हर अभ्यार्थी वैश्विक पूँजी के लिए उसी प्रकार एक 'संसाधन' मात्र है, जैसे मशीन, कच्चा माल या बिजली-कोयला। छात्रों को पूँजी के हाथ की कठपुतली, मुनाफे के मशीन का नट-बोल्ट या रोबोट-नुमा 'मानव संसाधन' में ढालना ही आज शिक्षा का उद्देश्य हो गया है।

स्वतन्त्रता आन्दोलन और उसके बाद शिक्षा-शास्त्रियों और राष्ट्रवादी नेताओं ने शिक्षा-व्यवस्था के जरिये न्याय और समानता पर आधारित एक बेहतर समाज की रचना का जो उद्देश्य देश के सामने रखा था, उसका भी आज पूरी तरह परित्याग कर दिया गया है। शासक वर्गों द्वारा अपने

आन्तरिक स्रोतों से देश को आत्मनिर्भर बनाने का रास्ता छोड़ कर साम्राज्यवाद के आगे आत्मसमर्पण करने के साथ ही शिक्षा को भी नग्न पूँजीवादी लूट ओर शोषण के लिए वैचारिक-नैतिक-सांस्कृतिक आधार तैयार करने की दिशा में मोड़ दिया गया। पूँजीवाद-परस्त, अमरीका-परस्त, उपभोक्तावादी, अपनी परम्परा और विरासत से अनभिज्ञ, देश, समाज और जनता की समस्याओं से पूरी तरह कटे, चरम स्वार्थी और आत्मकेन्द्रित, ईर्ष्या, द्वेष और अन्ध ी प्रतिस्पर्धा की मानसिकता से ग्रस्त तथा विदेशी संस्कृति और विदेशी तकनीक (विशेषकर सूचना प्रौद्योगिकी) के प्रति अन्धश्रद्धालु लोगों की जमात तैयार करना ही आज शिक्षा का उद्देश्य रह गया है। ऐसे ही लोग साम्राज्यवाद-पूँजीवाद की सेवा करने वाले 'रोबोटनुमा मानव-संसाधन' हो सकते हैं, जो स्वतन्त्र चिन्तन लोकतान्त्रिक मूल्य और न्यायप्रियता से पूरी तरह अछूते हों। काल-सेण्टरों या कम्प्यूटर के जरिये 'आउट सोर्सिंग' का काम करने वाले 'साइबर कुली', इलैक्ट्रानिक मीडिया, टी वी चैनल, टूरिज्म और मार्केटिंग में लगे लोग या बहुराष्ट्रीय निगमों के कारिन्दों के बीच इस नयी साम्राज्यवादी संस्कृति और नयी कार्पोरेट शिक्षा में ढाले गये लोग अक्सर ही मिल जाते हैं। उन्हें इस बात से कोई लेना-देना नहीं कि वे जो काम कर रहे हैं उससे किसे लाभ या हानि होती है और देश समाज पर इसका क्या प्रभाव पड़ता है। भविष्य की आशंका में किसी भी तरह अपनी नौकरी बचाने और अंधी होड़ में अपने सहकर्मियों से आगे निकल जाने की चिन्ता से वे हमेशा ग्रस्त रहते हैं, लेकिन सामूहिक प्रयास के जरिये अपने लिए बेहतर सेवा-शर्तों और बेहतर भविष्य के लिए प्रयास करने के बारे में वे बिल्कुल नहीं सोचते। मैकाले ने जिन मानस-पुत्रों की परिकल्पना करते हुए भारत में औपनिवेशिक शिक्षा की बुनियाद रखी थी, उन्हीं के नये संस्करण तैयार करना वैश्वीकरण के वर्तमान दौर की शिक्षा का उद्देश्य और इसमें यह काफी हद तक सफल होती दिखाई दे रही है।

शिक्षा-नीतियों में बदलाव का दूसरा नतीजा यह है कि शिक्षा के प्रति समग्र दृटिष्कोण का परित्याग करके उसे अलग-अलग खानों में बाँट दिया गया और केवल उन्हीं पाठ्यक्रमों को बढ़ावा दिया जा रहा है जिनकी तात्कालिक तौर पर बातार में अत्याधिक माँग और ऊँची कीमत हो। यह प्रवृति इतनी स्पष्ट और मुखर है कि इसके लिए उदाहरणों की कमी नहीं है। छात्रों को बहुआयामी ज्ञान-विज्ञान से लैस करने के बजाय व्यावसायिक और रोजगार परक शिक्षा के नाम पर 'उन्हें एकांगी और उपयोगितावादी सूचनाओं और दक्षताओं' तक सीमित रखा जा रहा है। नतीजा यह कि निजी व्यावसायिक पाठ्यक्रमों की पढ़ाई करके निकलने वाले छात्रों में ऐसे प्रबुद्ध लोगों को ढूँढ निकालना मुश्किल है जो देश-दुनिया के इतिहास या देश-दुनिया की वर्तमान परिस्थितियों के बारे में सामान्य जानकारी भी रखते हों या किसी भी मसले पर उनका कोई स्पष्ट नजरिया हो। हमारे देश में उच्च शिक्षा तक बहुत ही थोड़े लोगों की पहुँच है और उनमें भी विचारहीन कारिन्दों की बहुतायत हमारे देश और समाज के भविष्य के लिए अत्यन्त विनाशकारी है।

उच्च शिक्षा के रोजगार-परक शिक्षा का पर्याय बनाकर इस छिछलेपन को बढ़ावा देने के पीछे एक गहरी साजिश है, जिसे समझना जरूरी है। छात्रों को किसी खास रोजगार के लिए

तैयार करना शिक्षा-व्यवस्था का गौण पहलू है, जिसे एकमात्र उद्देश्य बताना शिक्षा के महत्व को रसातल में पहुँचा देना है। लेकिन शिक्षा को माँग और पूर्ति के आधार पर चलाने और उसका व्यापार करने वालों के लिए यह जरूरी था कि शिक्षा को रोजगार से जोड़ने की बात पर जरूरत से ज्यादा जोर दिया जाये। यानी "जितनी महँगी शिक्षा उतनी अच्छी नौकरी" को लोगों के दिमाग में बैठा दिया जाये। साथ ही, ज्ञान-विज्ञान की उन शाखाओं का मखौल उड़ाया जाये जिनका छात्रों के स्वतन्त्र व्यक्तित्व-निर्माण और देश के भविष्य की दृष्टि से चाहे जितना महत्व हो, लेकिन आज के बाजार में ऊँची कीमत न हो, जैसे सामाजिक विज्ञान, विशुद्ध प्राकृतिक विज्ञान, दर्शन, भाषा, ललित कला, साहित्य इत्यादि। इस कॉमन सेंस की स्थापना के बाद ही शिक्षा को साम्राज्यवादी हितों के अनुरूप ढाला और खरीद-बिक्री के लिए सुगम बनाया जा सकता है और आज यही हो रहा है। और तो और, अब कर्मकाण्ड, ज्योतिष, हस्तरेखा जैसे अन्धविश्वास और ढोंग पाखण्ड से भरे अवैज्ञानिक गोरखधंधों को रोजगार-परक शिक्षा के नाम पर प्रोत्साहित किया जा रहा है, जो देश-समाज की प्रगति में बाधक है।

शिक्षा-नीतियों का सबसे सीधा असर यह हुआ है कि निजीकरण और व्यावसायीकरण के जरिये शिक्षा को मँहगा करके व्यापक छात्र-समुदाय को शिक्षा से वंचित कर दिया गया। इन्द्रप्रस्थ विश्वविद्यालय के अधीन बी एड कॉलेज की हर सीट की कीमत 45,000 रुपये रखी गयी। मेरठ विश्वविद्यालय में बी एड की प्राइवेट सीटों पर पिछले वर्ष 120,000 रुपये तक की बोली लगी, जबकि दिल्ली विश्वविद्यालय में बी एड की फीस 2,500 रुपये है। उसी स्तर और उससे भी घटिया सुविधाओं वाले पाठ्यक्रम के लिए इतनी बड़ी रकम वसूलना छात्रों को सरे आम लूटना क्या नहीं है? क्या आम छात्रों के लिए इसे चुका पाना सम्भव है? मेडिकल की पूरी पढ़ाई के लिए 15 से 25 लाख रुपये तक फीस चुकाना हमारे देश के कितने परिवारों के लिए सम्भव है? बिरला-अम्बानी कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में बी ए, बी एस सी की पढ़ाई पूरी करने के लिए 1 लाख रुपये तक फीस रखने की सिफारिश की है।

आजादी के बाद सदियों से समाज के हाशिये पर पड़ी आम जनता, विशेषकर महिलाओं, दलितों और आदिवासियों में शिक्षा की आकांक्षा और माँग बढ़ी थी और कम से कम उनके सामने सपना था कि अपनी प्रतिभा के दम पर वे भी उच्च शिक्षा हासिल कर सकते है। व्यावसायीकरण ने उनके इस सपने को चूर-चूर कर दिया और उच्च शिक्षा की नैतिक-अनैतिक कमाई से धनवान बने मुठ्ठी-भर लोगों के लिए पूरी तरह आरक्षित कर दिया।

पहले भी हमारे देश में धनी और गरीब जनता की सन्तानों के लिए दोहरी शिक्षा थी। वैश्वीकरण के इस दौर में प्राथमिक स्तर पर सस्ती, मँहगी और मुफ्त शिक्षा तथा माध्यमिक और उच्च शिक्षा के स्तर प्राइवेट, सरकारी ,दूरस्थ, पत्राचार और विदेशी पाठ्यक्रम या डिग्री जैसी नाना प्रकार की शिक्षा के जरिये पहले से ही मौजूद विषमता की खाई और अधिक बढ़ाया जा रहा है।

औपचारिक शिक्षा के अलावा शासक वर्ग विभिन्न माध्यमों से साम्राज्यवादी संस्कृति का प्रचार तथा जनता की चेतना को कुन्द करने और उन्हें दिग्भ्रमित करने का लगातार प्रयास

कर रहा है। अखबारों, पत्र, पत्रिकाओं, टेलीविजन और अन्य प्रचार माध्यमों के जरिये एक तरफ विदेशों से आयातित पतित साम्राज्यवादी संस्कृति और दूसरी ओर अन्धविश्वास, ढ़ोंग-पाखण्ड और अवैज्ञानिक विचार का कचरा जनता के मन-मस्तिष्क में ठूसा जा रहा है। शिक्षा के औपचारिक तन्त्र की तुलना में साम्राज्यवाद की कार्रवाई कहीं ज्यादा घातक है। 'इतिहास का अन्त', 'सपनों का अन्त', 'विचारों का अन्त,' 'कोई विकल्प नहीं,' 'कुछ नहीं किया जा सकता', इसलिए खाओ-पिओ मौज करो, भोग-लिप्सा में डूब जाओ। चमक-दमक से भरे उपभोक्ता मालों के साथ-साथ ऐसे ही निकृष्टतम् विचार और पतित संस्कृति अमरीका और पश्चिमी पूँजीवादी देशों के टीवी चैनलों, इण्टरनेट और पत्र-पत्रिका पूरी दुनिया में फैला रही हैं। मानवीय गुणों, इंसानी रिश्तों, भाई-चारा, आपसी सहयोग और एकता की जगह आज ह्रदयहीनता, बेगानापन, आत्मकेन्द्रित जिन्दगी, हिंसा, कामुकता, निराशोन्माद और अकेलापन को उभारने वाली सामग्रियों का वे दुनियाभर में थोक भाव से निर्यात कर रहे हैं। जिसे 'ज्ञान-आधारित उद्योग' का 'भारहीन माल (वेटलेस गुड्स)' कहा जा रहा है, उसका व्यापार करके अमरीका अरबों डालर की कमाई करता है। लेकिन इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि विश्व पूँजीवादी व्यवस्था को चिरस्थायी बनाने ओर यथास्थिति को बरकरार रखने के लिए यह लगातार वैचारिक संस्कृति माहौल तैयार करता रहता है।

आज देशभर में मैनेजमेण्ट, कानून या अन्य पाठ्यक्रमों के ऐसे प्राइवेट कालेज खुल गये हैं जिनका उद्देश्य बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की जरूरत के लिए कारिन्दे तैयार करना है। इन कालेजों में प्रवेश प्रक्रिया, प्रशासनिक ढाँचा, पढ़ाई का स्तर, मूल्यांकन आदि के मामलें में पूरी चुस्ती और पारदर्शिता होती है। जिन बुराइयों से हमारे अधिकांश सरकारी विश्वविद्यालय ग्रस्त हैं, उनका लेश-मात्र भी यहाँ देखने को नहीं मिलता। शिक्षक और छात्र-दोनों ही कर्तव्यनिष्ठ और परिश्रमी है। ऊपर-ऊपर देखने पर इन संस्थानों की व्यवस्था आदर्श और सर्वश्रेष्ठ लगती है।

लेकिन अपने उद्देश्यों के अनुरूप ही देशी-विदेशी कम्पनियों के लिए खास तरह के शिक्षित लोगों की जमात तैयार करना इन संस्थानों का उद्देश्य है। इनमें पढ़ने वाले छात्र फीस के रूप में भारी रकम चुकाते हैं। यहाँ के छात्र समाज से पूरी तरह कटे होते हैं। विषय की पढ़ाई, देश-दुनिया, की परिस्थितियों से काट कर एकांगी और यान्त्रिक रूप से की जाती है। विषयवस्तु को सामाजिक-राजनीतिक हालात से जोड़ने का काम नहीं किया जाता। उन्हें सिर्फ यह बतलाया जाता है कि इस विषयवस्तु को पढ़कर वे अपनी कम्पनी की अच्छी से अच्छी सेवा कैसे करेंगे, उनकी नौकरी में इसकी उपयोगिता क्या होगी और अपने पेशे में शिखर पर पहुँचने के लिए उन्हें क्या करना होगा। पूरी शिक्षा को कारपोरेट में उनकी नौकरी के हिसाब से ढाल दिया जाता है, जहाँ सैद्धान्तिक पक्ष को व्यापकता में बताने के बजाय उपयोगितावादी और तकनीकी पक्ष तक सीमित कर दिया जाता है। छात्रों को भावनात्मक, सामाजिक व राजनीतिक सरोकारों से दूर रहने की शिक्षा दी जाती है और कभी भी इन विषयों पर आपस में कोई चर्चा नहीं होती। उनके बीच आपसी सहयोग और सुख-दुख में भागीदारी की जगह अन्धी प्रतिस्पर्द्धा, ईर्ष्या और सरोकारहीनता के रिश्ते होते हैं।

कारपोरेट के लिए मैनेजर, विधि अधिकारी का अन्य देशों की शिक्षा देने वाले इन संस्थानों से निकलते ही लगभग सभी छात्रों को ऊँची तनख्वाह वाली नौकरी मिल जाती है। लेकिन किसी देश-समाज के लिए इससे दुर्भाग्यपूर्ण क्या होगा कि प्रतिभाशाली दिमाग ऐसे काम में लगे होते हैं जिसका सृजनशीलता से कोई लेना-देना नहीं होता। अपने अच्छे वेतन के बदले वे एक उबाऊ, नीरस और रूटीनी जिन्दगी जीने के लिए बाध्य होते हैं। उनकी प्रतिभा और परिश्रम अपने देश-समाज के लिए निरर्थक होता है। वे अपने ही देश में रहकर भी विदेशियों के चाकर होते हैं। निश्चय ही, यह नये तरह के कारपोरेट हितों की सेवा में लगी शिक्षा देश के लिए घातक है।

शिक्षा के अनौपचारिक माध्यमों से नयी पीढ़ी के मन में जो विचार और संस्कार दिये जा रहे हैं वे तो और भी खतरनाक हैं।

अभूतपूर्व संकट के इस दौर में छात्रों-नौजवानों और की भूमिका

आज हमारा देश एक अभूतपूर्व संकट से गुजर रहा है साम्राज्यवाद के आगे आत्मसमर्पण करके हमारे देश के हुक्मरानों ने एक विकट परिस्थिति को जन्म दिया है। साम्राज्यवादी देशों की बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ अर्थव्यवस्था के साथ-साथ शिक्षा, संस्कृति, टेलीविजन, सिनेमा, साहित्य और कला के क्षेत्र में भी लगातार घुसपैठ करती जा रही हैं। उनका संश्रयकारी देशी शासक वर्ग इस काम में उनका भरपूर सहयोग कर रहा है। हमारा समाज भी बिना किसी प्रतिवाद के उनके प्रभुत्व को स्वीकारता चला जा रहा है। पहले जिन अश्लील फिल्मी दृश्यों या पत्र-पत्रिकाओं में छपने वाले चित्रों को देखकर लोगों की नजरें शर्म से झुक जाती थीं और पूरे देश में उन पर बहस उठ खड़ी होती थी, अब वे पूरे परिवार में सहज स्वीकार्य हैं। यह एक खतरनाक प्रवृति है।

आर्थिक नव-उपनिवेशवाद के इस दौर में समाज का ऊपरी तबका पूँजीपति, व्यापारी, नेता, नौकरशाह, शीर्षस्थ बुद्धिजीवी, पत्रकार, कलाकार इत्यादि और मध्यवर्ग का ऊपरी हिस्सा साम्राज्यवादी वैश्वीकरण की नीतियों का प्रबल समर्थक है। समाज के ऊपरी पायदान पर विराजमान उन मुट्ठीभर लोगों की आमदनी में पिछले 20 वर्षों के दौरान भरपूर इजाफा हुआ है। उदाहरण के लिए किसी बहुराष्ट्रीय कम्पनी के एक मैनेजर का एक साल का वेतन और भत्ते, उस कम्पनी के किसी कर्मचारी की जिन्दगी भर की कमाई से भी ज्यादा है। सर्वोच्च न्यायालय के एक वकील की एक घंटे की कमाई 2 लाख रुपये है जो एक मजदूर की दस वर्षों की कमाई के बराबर है। किसी वरिष्ठ नौकरशाह के मूल वेतन में जुड़ने वाले मँहगाई भत्ते की थोड़ी सी वृद्धि एक मजदूर के वेतन से ज्यादा होती है। शेयर बाजार के 5 लाख लोगों की सालाना आय 4 लाख करोड़ रुपये से ज्यादा है जो कृषि क्षेत्र की सम्पूर्ण आय के बराबर है जिसमे करोड़ों लोग खट रहें हैं। आय में इतना भारी अन्तर अब से 30 साल पहले की कल्पना से बाहर था। पहले गिने-चुने लोग ही विदेशों में पढ़ने जाते थे और उनमें से लोगों को छात्रवृति मिलती थी। जबकि अपने खर्चों से विदेशों में पढ़ने वाले अमीरजादों की संख्या आज लाखों में है।

जाहिर है कि देश में मुट्ठीभर लोगों की एक जमात ऐसी है जिनके लिए यह गुलामी काफी फलदायी है। इसलिए इस नयी यवस्था को बनाए रखने में ही उनका स्वार्थ है। दूसरी ओर लगभग 80% मेहनतकश आबादी को इस व्यवस्था में लुटने-पिटने और गुलामों से भी बदतर जिन्दगी जीने के लिए छोड़ दिया गया है। उनके लिए इस व्यवस्था का एक दिन बने रहना भी भारी बोझ है। समाज के ऊपरी तबकों के लिए हर रोज नये-नये स्वर्ग का निर्माण हो रहा है जिसकी झलक हमें सिनेमा के पर्दों और टी वी चैनलों पर देखने को मिलती है। दूसरी ओर, जीतोड़ मेहनत के बावजूद देश की अधिकांश आबादी के लिए रोटी, कपड़ा, मकान, इलाज और शिक्षा जैसी बुनियादी जरूरतों को पूरा कर पाना भी कठिन है।

यह सही है कि शिक्षा को व्यावसाय बनाकर फीसों में बेतहाशा वृद्धि करके हमारे शासकों ने गरीब तबके के छात्रों-नौजवानों को शिक्षा पाने के अधिकार से बेदखल कर दिया है। लेकिन बात यहीं तक सीमित नहीं है। साम्राज्यवादी-पूँजीवादी ताकतों ने आज जनता की जिन्दगी पर चौतरफा हमला बोल दिया है। एक तरफ मेधावी छात्र फीस वृद्धि के चलते आत्महत्या करने को मजबूर होते हैं तो दूसरी ओर किसानों-मजदूरों की आत्महत्या की खबरें आये दिन अखबारों में आती रहती हैं। न्याय की माँग करने वाले नागपुर के आदिवासियों, गंगानगर के किसानों, गुड़गाँव के मजदूरों तथा केरल, हिमाचल और देश के अन्य हिस्सों में छात्रों को भी लाठी गोली का शिकार बनाया जाता है। जाहिर है कि हमारा संघर्ष इस नयी गुलामी के खिलाफ एक लम्बी और निर्णायक लड़ाई का अंग है।

इस विकट परिस्थिति में छात्रो-नौजवानों के आगे एक ऐतिहासिक चुनौती आ खड़ी हुई है। क्या हम इस स्थिति को चुपचाप बर्दाशत करें और इसे अपने भाग्य का लेख मानकर स्वीकार कर लें? इतिहास के मार्ग में आने वाली हर रूकावट को हटाते हुए, उसे आगे बढ़ाने का दायित्व छात्रों-नौजवानों के कंधों पर ही होता है। आज का युग सचेतन तौर पर इतिहास को आगे ले जाने का युग है। इसलिए हमारे देश और जनता के सर से इस अन्यायपूर्ण, शोषणकारी और अमानवीय व्यवस्था का साया भी बिना सचेत प्रयास के टलने वाला नहीं इस व्यवस्था की जगह एक न्यायपूर्ण और बेहतर समाज व्यवस्था की स्थापना किये बिना हमारा देश सशक्त, स्वावलम्बी और समृद्ध नहीं बन सकता।

सवाल यह है कि हम शुरूआत कहाँ से करे! भगतसिंह ने कहा था कि "क्रान्ति की तलवार विचारों की सान पर तेज होती है।" दुनिया की किसी भी क्रान्ति के लिए नये विचार और नये संगठन के जरिए व्यापक जनता को जागृत करना पहला और जरूरी कदम होता है। अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए हमें भी यहीं से शुरूआत करनी होगी। सच तो यह है कि आज शिक्षा व्यवस्था और आर्थिक क्षेत्र में जो जनविरोधी नीतियाँ थोपी जा रही हैं। उनके बारे में लोगों की जानकारी नहीं के बराबर है। शासक वर्ग जिन नीतियों की साजिश लम्बे समय से रचते आ रहे होते हैं, उनके बारे में हमें तब जाकर पता चलता है जब उन नीतियों के परिणाम हमारे एकदम सामने आ जाते हैं। फीस-वृद्धि का उदाहरण हमारे सामने है। जब हमने इसके खिलाफ संघर्ष शुरू किया, उसी दौरान हमें यह पता लगा कि फीस वृद्धि दरअसल शिक्षा नीतियों में लम्बे समय से किये जा रहे बदलावों का नतीजा है। जब समाज का शिक्षित वर्ग और व्यापक छात्र समुदाय ही अपने खिलाफ होने वाली इन साजिशों से वाकिफ नहीं, तो शिक्षा से वंचित मजदूर-किसान और अन्य मेहनतकश जनता से भला हम कैसे उम्मीद कर सकते हैं कि वे इनकी बारीकियों को समझेंगे। इसलिए सबसे पहले हमारी जिम्मेदारी बनती है अपनी गैर-जानकारी और लापरवाही से हम छुट्टी पायें। स्वाध्याय और परिश्रम से देशी-विदेशी, पूँजीपतियों के गठजोड़ और उनकी साजिशों को अच्छी तरह समझें। पर्चा, पोस्टर, गीत, नाटक और आम सभा जैसे विभिन्न माध्यमों के द्वारा उसे जनता तक पहुँचायें। जब तक लोग अज्ञान के अंधेरे में पड़े रहेंगे तब तक अपनी दुख-दरिद्रता के लिए अपनी किस्मत को दोष देते रहेंगे। लेकिन ज्यों ज्यों

सच्चाई जानते जाऐंगे वे अपने हकों के लिए आवाज उठाना शुरू कर देंगे। वर्तमान समस्याओं और शासक वर्गों की साजिशों को समझने में एक बहुत बड़ी बाधा यह है कि आज शिक्षातंत्र और मीडिया द्वारा नई पीढ़ी को इतिहासबोध, वैज्ञानिक चेतना, तर्क परकता और जनपक्षधर दृष्टिकोण से दूर करने के लिए उनके बीच अन्धविश्वास और भ्रामक विचारों का निरन्तर प्रचार-प्रसार किया जा रहा है। इसलिए यह जरूरी है कि हम विभिन्न राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय विषयों पर अध्ययन चक्र, विचार-विमर्श चक्र, विचार-गोष्टी और सेमिनारों का आयोजन करें तथा छात्रों-नौजवानों और जनपक्षधर बुद्धिजीवियों के बीच एक वैचारिक गहमागहमी का माहौल बनायें। जनसंगठन और जनान्दोलन के निर्माण की यह पूर्व शर्त है। शासक वर्ग की किसी भी नीति या समाज की किसी भी समस्या का समाधान करने के लिए हमारी कसौटी यही होनी चाहिए कि वह फैसला जन समुदाय के हित में है या नहीं। यही सूत्र शासक वर्ग के भ्रामक शब्दजाल को काटने तथा सही विश्लेषण करने और सही नतीजे तक पहुँचने में सहायक होगा।

नौजवान दोस्तो! घुटनों में सर छुपाकर बैठे रहने से काम नहीं चलेगा । उठकर खड़े हो जाओ और गौर से सुनो कि लूट और अन्याय पर टिकी इस व्यवस्था के अलम्बरदार क्या कह रहे हैं। इनके रहस्यमय झूठ के साथ अपने जीवन की सच्चाई का मिलान करो। इनकी हवाई घोषणाओं और जन-विरोधी नीतियों का जनता की वास्तविक जिन्दगी की कठिनाइयों के साथ मिलान करो। समझो इनके धोखे और मक्कारी को। इस रहस्य को समझने का प्रयास करो कि कैसे मुट्ठीभर लोग आपस में साजिशें रचते हैं और देश की एक अरब आबादी को भेड़-बकरी की तरह हाँकते हैं और फिर भी उन्हें कहीं से कोई प्रबल चुनौती नहीं मिल रही है देश की युवा पीढ़ी निराशा के उन्माद में आतंकवादी बन जाय, अपराधी बन जाय तो उन्हें कोई गम नहीं, कोई परेशानी नहीं, क्योंकि उनसे निपटना उनके लिए कोई कठिन चुनौती नहीं । उन्हें डर है-क्रान्तिकारी विचारों से। उन विचारों से डर है जिन्हें एक बार जनता आत्मसात कर ले और उसे अमली जामा पहनाने में जी जान से जुट जाय तो उन चन्द मदारियों का खेल खत्म होना निश्चित है। वे इतिहास से डरते हैं-उन ऐतिहासिक संघर्षों और इतिहास के दमकते पन्नों से जिनके दोबारा इस धरती पर उतरने की आहट सुनाई दे रही है। नौजवान दोस्तों! हमें अपनी संघर्ष यात्रा के दौरान शहीद भगतसिंह की इस चेवावनी को याद रखना होगा-"नौजवानों को चाहिए कि भारतीय स्वतंत्रता के आदर्श को अपने जीवन के एकमात्र लक्ष्य के रूप में अपनाये। उन्हें चाहिए कि मक्कार तथा बेईमान लोगों के हाथों में न खेलें जिनके साथ उनकी कोई समानता नहीं है, जो हर नाजुक मौके पर आदर्श का त्याग कर देते हैं। उन्हें चाहिए कि ईमानदारी और संजीदगी के साथ 'सेवा, त्याग, बलिदान' को अनुकरणीय वाक्य के रूप मे अपना मार्गदर्शक बनायें। याद रखिये कि राष्ट्रनिर्माण के लिए हजारों अज्ञात स्त्री-पुरूष के बलिदान की आवश्यकता होती है, जो अपने आराम और हितों के मुकाबले तथा अपने एवं अपने प्रियजनों के प्राणों के मुकाबले देश की अधिक चिन्ता करते हैं।"

धूल और राख की परतों के नीचे दबे, मानवता के उच्चतम आदर्शों, सपनों और विचारों से अपने आपको सुसज्जित करते हुए एक नये समाज के निर्माण में लग जाना ही हमारी जिन्दगी की असली सार्थकता होगी।

इन्कलाब जिन्दाबाद।